ॐ अर्हम्



श्रीमद्-यशोविजय उपाध्याय-विरचित-अवचूरि-सहिता

तथा

संपादक-कृत-[हींदी]-भावार्थ-चन्द्रिका-समेता

अज्ञातनामक-पूर्वधर-पूर्वाचार्य-प्रवर-विरचिता

स्तव-परिज्ञा

राजकोटस्थ-

प्रभुदास बेचरदास पारेख

इत्यनेन संपादिताः प्रकाशिताश्च श्रावक-बन्धु-धन-सहायेन।

प्रतयः-[सं०] १००० , [हीन्दी] ५००

श्री वीर संवत्-२४९७ श्री-वि० सं० २०२७ इ० स० १९७१

ब्यावर (राजस्थान) स्थ-श्री कृष्णा आर्ट-मुद्रणालये

पृष्ठ-१०४ तथा ९६ पर्यंता मुद्रिता।

शेष मुद्रक वसंत प्रिन्टींग प्रेस, घीकांटा — अमदावाद

॥ मूल्यम्-(६) रूप्यक-षट्कम् ॥

प्रास्ताविक

१ स्तव परिज्ञा

२०३ गाथामयी **स्तव परिज्ञा** ग्रन्थ श्री हरिभद्रसूरिवर विरचित **पञ्च वस्तु** महाग्रन्थ में गाथा १११० से १३१२ गाथा तक में है। उस पर **पञ्च वस्तु** पर की श्री हरीभद्रसूरिश्वरजीकी टीका भी है। **पञ्च वस्तु** ग्रन्थ **आगमोदय समिति** से छपा है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजश्रीने अपना **प्रतिमा शतक** नामक ग्रन्थ की ६७ वीं गाथा में यह **स्तव परिज्ञा** ग्रन्थ पूरेपूरा रख दीया है, और उसके पर अपनी अवचूरिका भी रची है।

जो यहां छपी गई है, और साथ में जो **पञ्च वस्तु** ग्रन्थ गत पाठ भेद हैं, वे [ ] कौंस में बताये गयें है। श्री उपाध्यायजी महाराजका कहना हैकि—यह ग्रन्थ—दृष्टिवाद आदि से उद्धृत किया गया है।

" इयं खलु समुद्धृता सरस—दृष्टिवादादितः "

इस ग्रन्थ की रचना दशपूर्वधर युगप्रधान आचार्यश्री **वज्रस्वामिके** बाद बुई मालूम पडती है। किन्तु कब हुई? किन्हीं ने की? पता नहिं। इसकी बहुत सी गाथायें पञ्चाशक आदि ग्रन्थ में पाई जाती है।

२ स्तव परिज्ञा का संबन्ध

सर्व संग त्यागी पूज्य श्री मूनिमहात्माओं दिनभर अपने धर्मानुष्ठान द्वारा धर्म-ध्यान में रहते हुए भी बिच में रहता अवकाश में सुस्वाध्याय करने का शास्त्रानुसार रहता है। इसके अनुसंधान में — सत् शास्त्रों का स्वाध्याय करने के लिए **ज्ञान परिज्ञा** और **स्तव परिज्ञा** आदि सूचित किये गयें है। **स्तव परिज्ञा** ग्रन्थ पूरेपूरा रख दिया गया है।

स्तव परिज्ञा में — द्रव्य स्तव और भावस्तव के स्वरूप के विचार है।

३ चार अनुयोग

संख्यातीत खुबीओं से भरे जैनधर्म में — जैन शासन में — जैन दर्शन में — चार अनुयोगरूपतया शास्त्र निरूपण की व्यवस्था की गई है।

पदार्थ स्वरूप का निरूपण द्रव्यानुयोग में बताया गया है। उस पदार्थ का आत्मगुण के विकास आदि में उपयोग आदि चरणानुयोग में बताये गये है। गणितानुयोग और कथानुयोग उपरोक्त दो मुख्य अनुयोगों के सहकारी अनुयोगें मालूम पडतें हैं। पदार्थ का स्वरूप सख्या–नाप–वजन–प्रमाण आदि के गणित के नियमपूर्वक बताये जा सकते है। उसी तरह–चरणानुयोग से बताई गई बातें दृष्टान्त और कथा से ग्राह्यग्राह्यतया बता दी जा सकते है। कथायें दो प्रकार की रहती है। १ पतन विषयक, और गुण विकास विषयक। इसी तरह सकल शास्त्र रचना चार मुख्य अनुयोगों में व्यवस्थित रखी गई मालूम पडती हैं।

दृष्टान्त—पत्थर क्या है? एक नक्कर पदार्थ है। द्रव्यानुयोग में बात आ गई। पत्थर की सख्या आदि बताई दी जावे, वह गणितानुयोग से बताया जावे। जीवन में पत्थर का अच्छा और बुरा कौनसा उपयोग हो सके? यह चरणानुयोग का और किसने कैसा उपयोग किया? यह कथानुयोग का विषय बन जाय। गणित विना पदार्थ का योग्य स्वरूप दिखाया न जा सके, और कथा बिना चरण का पतन और विकास का स्वरूप असरकारक तया समझाया जा न सके।

आत्मा कैसा पदार्थ है? परमाणु कैसा पदार्थ है? यह द्रव्यानुयोग से बताया जा सके। और गणित के नियम से संख्या-प्रमाण आदि बताये जा सके। और चरणानुयोग से आत्मा का विकास और पतन के स्वरूप बताये जा सके। कथानुयोग से असर कारकपना दिखाया जावे। इस हेतु से चार अनुयोग की निरूपण पद्धति खूब व्यवस्थित पद्धत्ति भी मालूम पडेगी।

आध्यात्मिक गुण विकास के कई स्वरूप दिये गये है। जो मोक्ष की प्राप्ति में उपयोगी होकर, मोक्षमार्ग रूप बना रहे, जिसके नाम-धर्म, रत्नत्रयी, चरण–करण, चारित्र, आध्यात्मिक विकास, आत्मिकगुण विकास, मोक्षमार्ग, आदि कई नाम प्रसिद्ध है।

सो–स्तव परिज्ञा का विषय–चरणानुयोग की साथ सबंध रखता है।

४ दो प्रकार के स्तव

भाव स्तव का लक्षण–अट्ठारह हजार शीलांग का पालन बताया है। और द्रव्य स्तव का लक्षण–भाव स्तव की स्थिति प्राप्त करने के लिए जो जो किये जावे, वे सभी द्रव्य स्तव। उसमें जिन प्रतिमा पूजा से लेकर सभी का समावेश हो जाता है। सम्यग् दर्शन की प्राप्ति, देश विरति का पालन, आदि उसमें समाविष्ट किये गये।

५ स्याद्‌वाद् का आश्रय

द्रव्यानुयोग में – अनेक सांगोपांग पद्धत्ति से विश्व का निरूपण जैन शास्त्रो में-जैन शासन में है। प्रत्येक पद्धत्ति का निरूपणें स्वतंत्र शास्त्र रूपतया भी किये गये हैं।

उसी तरह – चरणानुयोग में भी चरण विषयक स्वतंत्र–स्वतंत्र अनेक पद्धतियाँ बताई गई। द्रव्यानुयोग दृष्टि से विश्व का स्वरूप निरूपण अनेक दृष्टिओं से अनेक पद्धत्तियों से किया गया है। तदन विभिन्न विभिन्न स्वरूप के मालूम पडने पर भी स्याद्-वाद से परस्पर के संबन्ध बैठ जाता है। उसी तरह से चरणानुयोग दृष्टिसे कई पद्धत्तियाँ आत्मगुण विकास प्रक्रिया से बताई गई है। इस ग्रन्थ में दृष्टान्त तया-द्रव्यभाव स्तव, और दान-शील तप-भाव को घटा कर वह बताया गया है। उसी तरह से कइ प्रकार की पद्धत्तियाँ शास्त्रों में बताई गई है।

६ वेद शास्त्र विषयक विचार

इस ग्रन्थ में जिन प्रतिमा पूजा में हिंसा अहिंसा का विचार किया गया है। यज्ञार्थ की हिंसा अहिंसा विषयक विचार भी बताया है। वेद संबंधी पौरुषेय-अपौरुषेय की प्रासङ्गिकचर्चा भी की गई है। उसविषय में धर्म शास्त्रीयता आदि के विषय में (गुजराती) भावार्थ चन्द्रिका के प्रास्ताविक में कुछ मौलिक बातें लीखी जायेंगी।

७ शारीरिक निर्बलता आदि कारणों से शुद्धिपत्रक नहीं दिया हैं। विज्ञवाचकवर्ग स्वयं योग्य सुधार समझकर वांचने की कृपा करें। अनेक स्खलनादि के लीए क्षमा याचना शिवाय दूसरा-उपाय नहि। कृपया हिन्दी भाषा सुधार कर वांचीये।

राजकोट–२
फागुन शुक्ला ५ मी
२०२७   }   प्रभुदास बेचरदास पारेख

सावचूरिक – स्तव – परिज्ञा–

विषयानुक्रमः

प्राथमिक द्रव्य सहायकों की नामावली

(द्रव्य के योग्य प्रमाण में पुस्तको भेजने का)

१००) श्री जोधपुर (मारवाड) के एक गृहस्थ, मारफत लीलाधरभाइ काळीदास देसाई
५०) श्री फतहचंदजी कोचर—कलकत्ता
२२) श्री चंपालालजी कोचर— „
१००) श्री छोटेलालजी सुराणा—कलकत्ता [पुष्पावहिन के स्मरणार्थ]
२००) श्री नेमचंद लक्ष्मीचंद—सलोत—दाठा
१००) श्री जीवराज अगरचंद गुलेच्छा—फलोधि

५७२

श्री जीवराजजी रामपुरीयाजी की पेढी में जमा

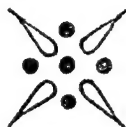
२००) श्री लक्ष्मीलालजी संपतलालजी लुंकड—सोलापुर
१००) श्री आसकरणजी वेद—पटणा
२५०) श्री नेमीचंदजी वेद—पटणा

५५०

११२२

[हिन्दी] भावाऽर्थ चन्द्रिका युक्त-स्तव-परिज्ञाका

विपयानुक्रम



प्रसिद्ध श्रीमन्महोपाध्याय-यशो-विजय-गणि-वर-विरचिता-ऽवचूरिका सहिता—

श्री-पूर्व-धर-पूर्वा-ऽऽचार्य-विरचितत्वेनोक्ता

स्तव-परिज्ञा

[अवचूरिका-कार मङ्गलम्]

अथ स्तव-परिज्ञया प्रथम-देशना-देश्यया
गुरोर्गरिम-सारया स्तव-विधिः परिस्तूयते.
इयं खलु समुद्धृता स-रस-दृष्टि-वादा-ऽऽदितः
श्रुतं निर-ऽघमुत्तमं समय-वेदिभिर्भण्यते. ॥१॥

अथ-

"स्तव-परिज्ञा अत्य-ऽन्तोपयोगिनी"

इति—

यथा-

पञ्च-वस्तुके दृष्टा,

तथा-

लिख्यते । :—

तथा हि —

"एअमिहमुत्तम-सुअ 'आइ'-सद्दाओ थय-परिण्णा-ऽऽइ"।
"वण्णिज्जइ जीए थओ दु-विहो वि गुणा-ऽऽइ-भावेण" ॥ १ ॥

‡ "एतत् | उत्तम-श्रुतम्—उत्तमा ऽर्था-
इह | ऽभिधानात् ।

‡ आदि-शब्दात्— | स्तव-परिज्ञा-ऽऽदयः—प्राभृत-विशेषा
द्वार-गाथोक्ताः— | गृह्यन्ते ।

‡ तत्र—

" का स्तव-परिज्ञा ?" इति प्रश्न वाक्यमाऽऽश्रित्य, आह —

"यस्याम्—ग्रन्थ-पद्धतौ | वर्ण्यते—
स्तवः— | गुणा ऽऽदि-भावेन—गुण-प्रधान-रूपतया,
द्वि-विधोऽपि—द्रव्य-भावोपपन्न- | गुणा-ऽधि-भावेन—गौणा-ऽधिक-प्रधान-
स्तव-वाच्यः | भावेन-इत्यऽपि पाठा ऽन्तरा ऽर्थः,

"सा स्तव-परिज्ञा" इति-उत्तर-वाक्य द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

‡ उक्तमेवोपविशति, —

दव्वे भावे अ थओ. "दव्वे—भाव-थय-रागओ विहिणा
जिण-भवणा-ऽऽइ-विहाणं." "भाव-थओ—संजमो सुद्धो." ॥२॥

पञ्चा० ६-२

‡ "द्रव्य"—इति द्रव्य-विषय | स्तव —भवति ।
"भावः"-इति भाव-विषयः |

‡ तत्र—

"द्रव्ये—द्रव्य-विषयकः स्तवः—
भाव स्तव-रागत — ※[वक्ष्यमाण-भाव-स्तवा-ऽनुरागेण]
विधिना—[वक्ष्यमाणेन]
जिन-भवना-ऽऽदि-विधानम्—[यथा-सभव करणम्]
आदिना—जिन-बिम्ब पूजा-ऽऽदि-ग्रहः ।"

"भाव-स्तवेच्छा-प्रयोज्य प्रवृत्ति-विषयो जिन-भवना-ऽऽदि-विधानं द्रव्य-

---

※[ ] एतादृक कोष्ठका ऽन्तर्गततया यत् निर्दिष्टम्, तद् ज्ञेय मुद्रित पञ्च वस्तु ग्रन्थादुद्धृतमिति।

स्तवत्त्वेन व्यवहार्यम्" इत्य-ऽर्थः ।

‡ "भाव-स्तवः— पुनः
संयमः—साधु-क्रिया-रूपः
शुद्धः—निर-ऽतिचारः "॥२॥

तत्र—

"जिण-भवण-कारण-विही, :—सुद्धा भूमि, दलं च कट्ठा-ऽऽई,।
भिअगा-ऽण-ऽइ-संधाणं, सा-ऽऽसय-वुड्ढी, समासेण." ॥३॥

पञ्चा० ७-९

‡ "जिन-भवन-कारण विधिः— अयं द्रष्टव्य, :—
यदुत—
शुद्धा भूमिः—वक्ष्यमाणया शुद्धया,
तथा—
दलं च काष्ठा-ऽऽदि— [शुद्धमेव] ।
तथा—
भृतक [०कानाम्]—कर्म-कराणाम्
अन-ऽति-संधानम्—अ-व्याजेन वर्तनम्
स्वा-ऽऽ(सु-आ) शयस्य—शुभ-भावस्य
वृद्धिः— [वर्धनम्] ।
समासेन—संक्षेपेण—
एष विधिः" ॥३॥

‡ (भूमि-) शुद्धिमेवाऽऽह, :—

"दव्वे भावे अ तहा सुद्धा भूमी" "पएस-ऽ-कीला य।
दव्वे. "ऽ-पत्तिग-रहिया अन्नेसिं होइ भावे उ." ॥ ४ ॥

पञ्चा० ७-१०

‡ "द्रव्ये
भावे च
शुद्धा
भूमिः ।"

‡ यथा-सङ्ख्यं स्व-रूपमाऽऽह :—

"प्रदेशे—तपस्वि-जनोचिते
अ-कीला—अस्थ्या-ऽऽदि-रहिता
द्रव्ये—इति द्रव्य-शुद्धा ।"

‡ अ-प्रीति रहिता | अन्येषाम्-प्राणिनाम्-आसन्नानाम्

"अ समाधि-कारण-परिहारवती," इत्य-ऽर्थ –
भावे तु-भाव-शुद्धा" ॥४॥
एतदेव समर्थयति —

"धम्म-ऽत्थमुज्जएणं सव्वस्सा-ऽ-पत्तिय न कायव्व" ।
इय संजमो वि सेओ इत्थ य भयव उदा-ऽऽहरणं. ॥ ५ ॥

‡ धर्माऽर्थम्
उद्यतेन-प्राणिना
सर्वस्य-जन्तो
इय-एवम्-परा-ऽ प्रीत्य ऽ-करणेन
अत्र-अर्थे—
भगवान्-[स्वयमेव वर्धमान-स्वामी]

अ-प्रीतिः
न
कार्या-[सर्वथा]
संयमोऽपि
श्रेयान्,-[नाऽन्यथा] ।
उदा ऽऽहरणम् ।
॥ ५ ॥

"कथम् ?" इत्याऽऽह —

"सो तावसा-ऽऽसमाओ तेसि अ-प्पत्तिय मुणेऊण ।
परमं अ-बोहि बीअं, तओ गओ हत-ऽ-काले वि" ॥ ६ ॥
पञ्चा० ७-१५

‡ सः-भगवान्
तापसा-ऽऽश्रमात्-पितृव्य-
　भूत [मित्र-] कुल-पति-सवन्धिन
तेषाम्-तापसानाम्
अ-प्रीतिम्-अ-प्रणिधानम्
मत्वा-मन -पर्यायेण,

"कि भूतम् ?"
परमम्—
अ-बोधि-बीजम्-गुण द्वेषेण,

ततः-तापसा ऽऽश्रमात्
गत -[भगवान्]
"हन्त"-इत्युपदर्शने
अ-कालेऽपि-प्रावृष्यऽपि" ॥ ६ ॥

"इय सव्वेण वि सम्म सक्क अ-प्पत्तिय सइ जणस्स ।
णियमा परिहरियव्व" "इयरम्मि सतत्त चिंताओ" ॥ ७ ॥

इय-एवम्- | सदा-सर्व-कालम्
सर्वेणाऽपि-पर-लोका-ऽर्थिना | जनस्य-प्राणि-निवहस्य
सम्यग्-उपायतः | नियमात्-अवश्यन्तया
शक्यम्- | परिहर्तव्यम्-न कार्यम्।
अ-प्रणिधानम्-

इतरस्मिन्-अ-शक्ये [हि] अ-प्रणिधाने | [स्व] सत्-तत्त्व-चिन्तैव-कर्तव्या।

"ममाऽयं दोषः" इति बहिर्मुखत्वे,
अन्तर्मुखत्वे च-"औदासिन्यम्" ॥ ७ ॥

॥ उक्ता भूमि-शुद्धिः ॥

‡ काष्ठा-ऽऽदि-शुद्धिमाऽऽह :—

कट्ठा-ऽऽई वि दलं इह सुद्धं, जं देवता-ऽऽदुपवणाओ।
नो अ-विहिणोवणीअं, सयं च काराविय जं नो. ॥ ८ ॥

पञ्चा० ७-१७

काष्ठा-ऽऽद्यऽपि दलम् | अत्र-विधाने-
| "शुद्धम्"-इति विधेय-निर्देशः,

यद्— | न
देवता-ऽऽद्युपवनात्- | अ-विधिना-बलिवर्दा-ऽऽदि-मारणेन
"आदिना-भिन्न-क्रमेण- | उपनीतम्-आनीतम्,
स्मशाना-ऽऽदि-ग्रहः"

स्वयं च- | कारितम्
नो | यच् च-इष्टका-ऽऽदि।

"तत्-कारि-वर्गतः क्रीतमुचित-क्रयेण" इत्युक्तेः ॥ ८ ॥

तस्स वि अ इमो णेओ सुद्धा-ऽसुद्ध-परिजाणणोवाओ, :-।
तक्कह-गहणाओ जो सउणेयर-सन्निवाओ उ. ॥ ९ ॥

पञ्चा० ७-१८

‡ तस्याऽपि च
अयम्–वक्ष्यमाण
ज्ञेय

शुद्धा-ऽ-शुद्ध-प्रासि-परिज्ञानो-
पायः–काष्ठा-ऽऽदे —

‡ तत्-कथा-ग्रहणा-ऽऽदौ [प्रस्तुते]
यः

शकुनेतरयो –शकुना ऽ पशकुनयो
सन्निपातः–मीलनम् ॥९॥

"क स ? " इत्याह :—

नन्दा-ऽऽइ-सुद्धो सद्दो, भरिओ कलसो,ऽथ सुन्दरा पुरुसा ।
सुह-जोगा-ऽऽई य सउणो कंदिय-सद्दा-ऽऽई इयरो उ. ॥१०॥

पञ्चा ७ १९

‡ नन्द्या ऽऽदि-शुभ-शब्दः-आनन्द-कृत्,
तथा—
भृतः
कलश –शुभोदका ऽऽदे ,

अथ
सुन्दराः
पुरुषा -धर्म-चारिण ,
शुभ-योगा-ऽऽदिश्च –व्यवहारः–
लग्नाऽऽदि

‡ आक्रन्दित शब्दा ऽऽदिस्तु

इतरः–अपशकुन ॥१०॥

उक्ता दल-शुद्धि ।

विशेषमाऽऽह —

सुद्धस्स वि गहियस्स पसत्थ-दिअहम्मि सुह-मुहुत्तेणं ।
संकामणम्मि वि पुणो विण्णेया सउणमा-ऽऽइया ॥११॥ दारं ।

पञ्चा ७-२० ॥

शुद्धस्याऽपि
गृहीतस्य–काष्ठा ऽऽदे
प्रशस्ते दिवसे–शुक्ल पञ्चम्या-ऽऽदौ
शुभ-मुहूर्तेन–केनचित्

संक्रामणेऽपि पुनः–तस्य
काष्ठाऽऽदे
विज्ञेयाः
शकुना ऽऽदय –आदेय-हेयतया ॥११॥

इति द्वारम्

कारणे वि य तस्सिह भियगा-ऽण-ऽति-संधाणं न कायव्वं. ।
अवि चाऽहिग-प्पयाणं. दिट्ठा-ऽ-दिट्ठ-फलं एयं. ॥ १२ ॥
पञ्चा० ७-२१ ॥

‡ कारणेऽपि च
तस्य-जिन-भवनस्य
इह-
भृतकानाम्-कर्म-करणाम्

अति-संधानम्—
न
कर्तव्यम्,
अपि च
अधिक-प्रदानम्-[कर्तव्यम्],

‡ दृष्टा-ऽ-दृष्ट-फलम्
एतत् :—

‡ "अधिकं दानम्—
अधिक-कार्य-करणा-ऽऽशय-वैपुल्याभ्याम्" ॥ १२ ॥

एतदेवाऽऽह, :—

ते तुच्छगा वराया अहिएण दढं उवेंति परितोसं. ।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहियं पकुव्वंति. ॥ १३ ॥
॥ पञ्चा० ७-२२ ॥

‡ ते-भृतकाः
तुच्छाः
वराकाः-["अल्पाः" इत्य-ऽर्थः]

अधिकेन-प्रदानेन
दृढमुपयान्ति
परितोषम् ।

तुष्टाश्च-ते
तत्र-प्रक्रान्ते कर्मणि
ततः-प्राक्तनात् कर्मणः [दत्ताद् वा]

अधिकम्-
प्रकुर्वन्ति ।

दृष्टं फलमेतद् ॥१३॥

धम्म-पसंसाए तह केइ निबंधंति बोहि-बीआइं. ।
अन्ने उ लहुअ-कम्मा एत्तोचिअ संपबुज्झंति. ॥ १४ ॥
पञ्चा० ७-२३ ॥

धर्म प्रशंसया | निघ्नन्ति
तथा-ऊर्जना ऽऽचारत्वेन | बोधि-बीजानि कुशल-भावात् ।
कोऽपि-भूतका |
अन्ये तु— | अत एव-औदार्य्य-पक्ष-पातात्
बहु कर्माण -भूतका | संप्रबुध्यन्ते-मार्गमेव प्रपद्यन्ते ॥१४॥

लोगे अ साहु-वाओ अ-तुच्छ-भावेण "सोहणो धम्मो", ।
"पुरिसुत्तम-पणीओ," पभावणा एवं तित्थस्स ॥१५॥

पञ्चा० ७-२४

लोके च | अ-तुच्छ भावेन-अ-कार्पण्येन
साधु वादः-भवति, :— | "शोभनो धर्म"-इत्येव भूत ।
तथा—
"पुरुषोत्तम प्रणीत"- सर्वत्र दया प्रवृत्ते ।
प्रभावना | तीर्थस्य-भवति ।
एवम्—

अ-दृष्ट-फलमेतद् ॥१५॥

[illegible] ।

उपसंहरन्—फलमाह भूतका ऽन ऽति सधानम् ।

अथ—

[illegible] ऽऽज्ञाय शुद्धिमाऽऽह, —

[illegible] आऽऽणय सुद्धी वि इहं भुवण-गुरु-जिणिंद-गुण-परिण्णाए
[illegible]-ठावण-ऽत्थं सुद्ध-पवित्तीइ णियमेणं. ॥ १६ ॥

पञ्चा० ७-२५ ॥

[illegible] (प्र भा) ऽऽज्ञाय-शुद्धिरपि | भुवन गुरु-जिनेन्द्र-गुण परिज्ञया-
[illegible] | हेतु भूतया

[illegible] निमान सत्त्वानाम्—
[illegible]" इति-[illegible] ।

तद् बिम्ब-स्थापना-ऽर्थम्—जिन-
बिम्ब-स्थापनार्थंव
शुद्ध प्रवृत्तेः—कारणात्
नियमेन—अवश्यंतया
[स्वा-ऽऽशय-वृद्धिः]
॥ १६ ॥

"पेच्छिस्सं एत्थ अहं वंदणग-निमित्तमाऽऽगए साहू ।
कय-पुण्णे भगवंते गुण-रयण-निही महा-सत्ते. ॥ १७ ॥

पञ्चा० ७-२६ ॥

‡ द्रक्ष्यामि
अत्र—भवने—
अहम्
वन्दन-निमित्तम्
आगतान्
साधून्—मोक्ष-मार्ग साधकान्
कृत पुण्यान्
भगवन्तः
गुण-रत्न निधीन्-
महा सत्त्वान्—द्रष्टव्यान् ।।१७।

पडिबुज्झिस्संति इह दट्ठूण जिणिंद-बिम्बमऽ-कलंकं. ।
अण्णे वि भव-सत्ता काहिंति ततो परम-धम्मं. ॥ १८ ॥

पञ्चा० ७-२७ ॥

‡ प्रतिभोत्स्यन्ते—प्रतिबोधं यास्यन्ति
इह—जिन-भवने
दृष्ट्वा
अन्येऽपि
भव्य सत्त्वाः—लघु-कर्माणः
करिष्यन्ति
जिन बिम्बम्—मोह तिमिराऽपनयन-
हेतुम्
अ-कलङ्कम्—कलङ्क रहितम् ।
ततः—
परम् धर्मम्—संयम-रूपम् ।।१८।।

ता, एअं मे वित्तं जद-ऽत्थ
विणिअगमेति अण-ऽवरयं." ।
इय चिन्ताऽ-परिवडिया
सा-[सु-आ]ऽऽसय-वुड्ढी उ मोक्ख-फला. ॥१९॥

पञ्चा० ७-२८ ॥

‡ तत्-तस्मात्	अत्र-जिन-भवने
एतत्-[एतदेव वित्तम्]	(विनियोगम्) उपयोगम्
मम	एति-गच्छति
वित्तम्-द्रव्यम्,	अन ऽवरतम्-सदा।"
यद्	
इयम्-एव	अ-प्रतिपतित-
चिन्ता	स्वा ऽऽशय वृद्धिः — उच्यते,

मोक्ष फला-इयम् ॥१९॥

जिन-भवन-कारण-विधिरुक्तः ॥

‡ अन ऽन्तर-करणीयमाऽऽह, :—

निप्फाइय जयणाए जिण-भवणं सुंदरं,तहिं बिंबं ।
विहि-कारियमऽह विहिणा पइट्ठविज्जा अ-संभंतो. ॥२०॥

पञ्चा० ७४३ ॥

निष्पाद्य	जिन भवनम्-जिना ऽऽयतनम्
यतनया-परिणतोदका ऽऽदि ग्रहण-रूपया	सुन्दरम् ,—
तत्र-तस्मिं	विधिना-वक्ष्यमाणेन
बिम्बम्-भगवत्.	प्रतिष्ठापयेत्
विधि कारितम्-अद एव	अ संभ्रान्त -त्वरा ऽऽकुल सन्॥२०

‡ "विधि कारितम्" इत्युक्तम्, तमाऽऽह, :—

जिण-बिंब कारण-विही,:-काले संपूइऊण कत्तारं, ।
विह वोमि अ-मुल्ल-ऽप्पणमऽणु-ऽहन्न सुहेण भावेण.॥२१॥

पञ्चा० ७

जिन-बिम्ब कारण विधिः
अयं द्रष्टव्यः, :—
यदुत, :—
काले शुभे
संपूज्य-
कर्त्तारम्–वास-चन्दना ऽऽदिभिः,

विभवोचित-मूल्या-ऽर्पणम्-
स-गौरवम्—
अस्य—
अन-ऽघस्य-अ-पापस्य
शुभेन
भावेन—मनः-प्रणिधानेन ॥ २१ ॥

‡ अपवादमाऽऽह, :—

तारिसयस्साऽ-भावे तस्सेव हिय-ऽत्थमुज्जओ णवरं ।
णियमेइ बिंब-मोल्लं जहोचियं कालमाऽऽसज्ज. ॥२२॥

पञ्चा० ८-८ ॥

‡ तादृशस्य–अन-ऽघस्य कर्तुः
तस्यैव–कर्तुः
हिता-ऽर्थम्-
उद्यतः–अन-ऽर्थ परिजिहीर्षया
(विधिना)
नवरम्-

अ-भावे,
नियमयति–सङ्ख्या-ऽऽदिना
बिम्ब मूल्यम्–द्रम्मा ऽऽदि
यथोचितम्–[यदुचितम्]
कालमाऽऽश्रित्य [न परं व्यंसयति,
न चाऽऽत्मानम्] ॥२२॥

णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एसो, :—
स-ट्ठाणे सुह-जोगे अहि-वासणमुचिय-पूआए. ॥ २३ ॥

पञ्चा० ८-१६

‡ निष्पन्नस्य च
सम्यक्-शुभ-भाव वृद्धया
तस्य
स्व-स्थ ने–यत्र तद् भविष्यति
शुभ-योगे–कालमऽधिकृत्य

प्रतिष्ठापने
विधिः
एषः–वक्ष्माणः, :—
अभिवासना–क्रियते
उचित पूजया–विभवा-ऽनुसारतः ॥२३

चिइ-वंदण-थुइ-वुड्ढी, उस्सग्गो सासण-सुराए, ।
थय सरण, पूआ काले, ठवणा मंगल-पुव्वा उ. ॥ २४ ॥

दार गाहा

पञ्चा-८ ३२ ॥

चैत्य वन्दना–सम्यक्
स्तुति-वृद्धिः,
सत्र—
कायोत्सर्गः
"साधु."–इति–अ संमूढः–
शासन-देवताया –श्रुत देवतायाश्च,

स्तव स्मरणम्–चतुर्विंशति-स्तवस्य
(स्मरणम्),
"पूजा"–इति [जाति] पुष्पा-ऽऽदिना
काले–उचित समये,
स्थापना
मङ्गल पूर्वा–नमस्कार पूर्वा ॥२४॥

सत्तीए संघ-पूआ, विसेस-पूआ उ बहु-गुणा एसा. ।
जं एस सुए भणिओ,:-"तित्थ-यरा-ऽण-ऽ'तरा संघो." ॥२५

पञ्चा० ८ ३८ ॥

‡ शक्त्या
विशेष-पूजाया –दिगा ऽऽदि-
गताया: सकाशात्
बहु गुणा

सङ्घ पूजा–विभवोचिता ।
एषा–सङ्घ पूजा,
"विषय महत्त्वात्,
व्यापक-विषयत्वात्" इत्य ऽर्थ. ।

‡ व्याप्यात्व्यापकस्य महत्त्वे उपपत्तिमाऽऽह, ·—

यद्-यस्मात्, भणितत्वात्
एष –
"तीर्थं करा-ऽन-ऽन्तरः सङ्घ." इति,
अतः– "महानेव" इति ॥२५॥

सुए–आगमे [श्रुते–आगमे उक्तः]
(भणित), :—

‡ एतदेवाऽऽह ·—

गुण-समुदाओ संघो पवयण, तित्थं, ति होइ एग-ऽट्ठा ।
तित्थ-यरो वि य एअं णमए गुरु-भावओ चेव. ॥२६॥

पञ्चा० ८ ३९ ॥

-‡ गुण समुदाय

सङ्घ'–अनेक प्राणि-स्थ-सम्यग्
दर्शना ऽऽद्या ऽऽत्मकत्वात् ।

‡ "प्रवचनम्,
तीर्थम्"
इति
भवन्ति
एका-ऽऽर्थिकाः-"एवमाऽऽदयो
ऽस्य शब्दाः ।" इति ।

‡ तीर्थ-करोऽपि च
एनम्-सङ्घम्-तीर्थ-संज्ञितम्
नमति-धर्म-कथा-ऽऽदौ
गुरु-भावतः-
एव-
'नमस्तीर्थाय"
इति-वचनात् ।
"एतद् एवम्" इति ॥२६॥

‡ अत्रैव—
उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :—

तप्पुव्विया अरहया,पूइय-पूआ य, विणय-कम्मं च. ।
कय-किच्चो वि जह कहं कहेइ, णमए तहा तित्थं.॥२७॥

पञ्चा० ८-४० ॥

‡ तत् पूर्विका—तीर्थ-पूर्विका । अर्हत्ता—तदुक्ता-ऽनुष्ठान फलत्वात्,
"पूजित पूजा च"-इति, भगवता पूजितस्य पूजा भवति,
"पूजित-पूजकत्वात् लोकस्य" ।
विनय कर्म च—कृत ज्ञता-धर्म गर्भं कृतं भवति.
यदि वा—"किमऽन्यत् ?"
कृत-कृत्योऽपि
यथा—
कथाम्
कथयति-धर्म-संबद्धाम्,
तथा—
नमति
तीर्थम्
"तीर्थ-कर-नाम-कर्मोदयादेव,
औचित्य-प्रवृत्तेः" इति ॥२७॥

एअम्मि पूइयम्मि, णऽथि तयं, जं न पूइयं होइ. ।
भुवणेऽवि पूअणिज्जं ण अत्थि [ण गुण-ट्ठाणं]ठाणं तओ अण्णं.२८

पञ्चा० ८-४१ ॥

‡ अस्मिन्- [एतस्मिन् सङ्घे]
पूजिते,
नाऽस्ति
तद्-वस्तु,
यद्
पूजितम्-[अभिनन्दितम्]
न
भवति।

भुवनेऽपि-[सर्वत्र]
पूज्यम्-[पूजनीयम्]
नाऽस्ति-[न गुण स्थानम्, कल्याणत]
अन्यत्
ततः-[सङ्घात्]
स्थानम् ॥२८॥

तप्पूआ-परिणामो हंदि महा-विसयमो मुणेयव्वो ।
तद्-देस-पूअओ वि हु देवय-पूआ-ऽऽइ-णाएण. ॥२९॥

पञ्चा० ८-४२ ॥

‡ तत् पूजा परिणामः-सङ्घ-पूजा-
परिणामः
हंदि
महा-विषयः-एव
मन्तव्यः-सङ्घस्य महत्त्वात्।

तद्-देशे-[तद् देश पूजातोऽपि]
पूजयतोऽपि-एकत्वेन-
सर्व पूजा भावेन
देवता पूजा ऽऽदि-ज्ञातेन—
देवता देश पादा ऽऽद्य-ऽ-र्चन-
प्रभृत्युदा ऽऽहरणेन।

"देश गत-क्रियायामऽपि—
देश-परिणामवद्
व्यक्ति गत क्रियायां
सामान्य विषयक प्रत्या ऽऽसत्ति-विशेषात्
सामान्या ऽव(च्छिन्न) च्छादित-यावत्-
व्यक्ति विषयक-परिणामो महान्
(न) दुरपाव।" इति निष्कर्ष ॥२९॥

‡ विधि शेषमाऽऽह, —

तत्तो य पइ-दिणं सो करिज्ज पूअं जिणिंद-ठवणाए ।
विभवा-ऽणुसार-गुरुई काले णियय विहाणेणं. ॥३०॥

ततः–प्रतिष्ठा-ऽन-ऽन्तरम्
प्रति-दिनम्–
असौ–श्रावकः
कुर्यात्
पूजाम्– अभ्यर्चन रूपाम्
जिनेन्द्र-स्थापनायाः- "प्रतिमायाः"
इत्य ऽर्थः

विभवा-ऽनुसार गुर्वीम्–उचित-
वित्त-त्यागेन-
काले–उचिते एव
नियताम्–भोजना ऽऽदिवत्
विधानेन–"शुचित्वा ऽऽदिना"
इत्य ऽर्थः ॥३०॥

("ततः–असौ विधानेन प्रति दिनं जिनेन्द्र-स्थापनायाः काले नियतां विभवा-ऽनुसार-गुर्वीं पूजां कुर्यात्"-इत्य-ऽन्वयः। संपादकः)

जिण-पूआए विहाणं, --सूई-भूओ, तए चेव उवउत्तो,।
अण्ण-ऽंगम-ऽछिवन्तो करेइ जं [प]वर-वत्थूहिं. ॥३१॥

‡ जिण-पूजायाः
शुची-भूतः–सन्
स्नाना ऽऽदिना,
तस्याम् पूजायाम्
उपयुक्तः–प्रणिधानवान्,
अन्यद्–
अङ्गम्-शिरः प्रभृति

विधानम्–एतद्, :—
अ स्पृशन्.
[याम्-पूजाम्]
करोति
यत्
प्र-वर-वस्तुभिः–सु-गन्धि-
पुष्पा-ऽऽदिभिः ॥३१॥

सुह-गंध-धूव-पाणीय-सव्वोसहिमा-ऽऽइएहिं तो ण्हवणं.।
कुंकुमगा-ऽऽइ-विलेवणमऽइ-सुरहिं मण-हरं मल्लं. ॥३२॥

शुभ-गन्ध-धूप पानीय सर्व्वौषध्या-ऽऽदिभिः
तावत्,–प्रथममेव,
स्नपनम्,
भूयः—
तद-ऽनु—
अति-सुरभि-गन्धेन

कुङ्कुमा-ऽऽदि-विलेपनम्,
मनो हरम्–दर्शनेन च
माल्यम्, इति ॥३२॥

विविह-निवेअणमाऽऽरत्तिगा-ऽऽइ धूव-थय-वन्दणं विहिणा।
जह-सत्ति गीअ-वाइअ-णच्चण-दाणा-ऽऽइअं चेव. ॥३३॥

"विविध नैवेद्यम्' इति =
चित्र नैवेद्यम् ,
आरात्रिका-ऽऽदि,
तद-ऽनु-
धूप ,
तथा—
यथा-शक्ति
गीत वादित्र नर्तन-दाना ऽऽदि

तद ऽनु-
स्तवः,
तद ऽनु-
वन्दनम्
विधिना = विश्रब्धा ऽऽदिना ।

चेव
आदि-शब्दात्=उचित स्मरणम् ।। ३

"विहिया-ऽणुट्ठाणमिणं" ति एवमेयं सया करिंताणं ।
होइ चरणस्स् हेऊ णो. इह लोगाद-ऽवेक्खाए. ॥३४॥
॥ पञ्चा० ६-४ ॥

"विहिता ऽनुष्ठानमिदम्"
इत्येव चेतस्य ऽवधाय,
सदा
कुर्वताम्
न
इह लोका ऽऽन्य-ऽपेक्षया ।
"यावज्जीवमाऽऽराधना
अ दृष्ट विशेषे
निर्जरा-विशेषे च
हेतुः" इति गाथा-ऽर्थ ॥४॥

चरणस्य
हेतुः
एतदेव

आदि-शब्दात् = कीर्त्या ऽऽदि-
परिग्रह ।

एवं चिय भाव-ऽत्थए आणा-आराहणा उ रागो वि. ।
जं पुण एय-विवरियं, तं दव्व-थओ वि णो होइ. ॥३५॥
पञ्चा० ६-५ ॥

एवमेव = अनेनैव विधिना
कुर्वतामेतद्
भाव-स्तवे = वक्ष्यमाण-लक्षणे
आज्ञा-ऽऽराधनात् = कारणात्
रागोऽपि—

‡ "तद्-रागाच्च द्रव्य-स्तवत्वम्,
तच्-छरीर-घटक-विशेषण संपत्तेः"

‡ यत् पुनः = जिन भवना-ऽऽदि
एतद्-विपरीतम् = यादृच्छिकम्,
तद्
द्रव्य स्तवोऽपि
न
भवति = उत्सूत्रत्वात् ।

‡ "सूत्रा-ऽऽज्ञा-विशिष्ट-पूजात्वा-ऽऽदिनैव
भाव-स्तव-हेतुत्त्वात् ।" इति तार्किकाः ।।३५।।

‡ अभ्युपगमे दोषमाऽऽह, :—

भावे अइ-प्पसंगो. आणा-विवरीयमेव जं किंचि।
इह चित्ता-ऽणुट्ठाणं, तं दव्व-त्थओ भवे सव्वं. ॥३६॥

भावे = द्रव्य-स्तव-भावे च, तस्य । अति-प्रसङ्गः = अति-व्याप्तिः ।

"कथम् ?"

आज्ञा-विपरीत मेव =
आगम-विरुद्धमेव
[एवम्—]
यत्
किञ्चित्
इह = लोके
चित्रा-ऽनुष्ठानम् = गृह-कारणा-ऽऽदि,
तद्
सर्वम्-
द्रव्य-स्तवः = यथोक्त-लक्षणः
भवेत्—
"निमित्ता-ऽ-विशेषाद्" इति ॥३६॥

‡ व्यावर्तकमाऽऽशङ्क्याऽऽह, :—

"जं वीय-राय-गामि, अह तं" "नणु सिद्धा-ऽऽदि वि स एवं ।
सियं ?" "उचियमेव जं, तं." "आणा-ऽऽराहणा एवं." ॥३७॥

‡ "यद्
वीत राग गामि = अनुष्ठानम् ,
[अथ]
तत् = द्रव्य-स्तवः
अथ–इति चेत् ?"

‡ अत्राऽऽह, :—
"ननु" = इत्य-ऽ क्षमायाम्
शिष्टना-ऽऽद्य-ऽपि = आक्रो-
शना ऽऽद्य ऽपि वीत राग-गामि
[सद्]
एवम् = "निमित्ता-ऽ-विशेषात्"
इति-भावः
स = द्रव्य-स्तव [एव]
स्याद् = ? ।

‡ तस्मात्—
उचितमेव = वीत राग-गामि
यत् =
तत् = द्रव्य-स्तव ।

‡ "इत्थमुक्तौ दोषा ऽ भाव" इति चेत् ?
एवम् =
आज्ञा-ऽऽराधना = अवश्य वक्तव्या।

‡ "प्राय —
आज्ञा शुद्धस्यैवोचितत्वात्," इति भावः ।।३७।।

‡ एव च—
"आज्ञा-शुद्ध
वीत-राग गामि
भाव-स्तव-हेतुरऽनुष्ठानम्—
द्रव्य स्तव" इति निर्व्यूढम् ।
भाव स्तवेऽति-व्याप्ति वारणाय विशेष्यम् ।
अत्र
"विशेषण द्वयम्—
भाव स्तव-हेतुता ऽवच्छेदक परिचायकम् ।"
इति-"भाव-स्तव हेतुत्वमेव लक्षण सिध्यति ।"

‡ तत्राऽऽह, —

"जं पुण एअ-वियुत्तं एग-ऽ तेणेश्र भाव-सुण्णंति।
तं." विसयम्मि वि ण तओ, भाव-थया-ऽ-हेउओ उचिओ. ॥३८॥
पञ्चा० ६ ९ ॥

यत् पुनः = अनुष्ठानम्
एतद्-वियुक्तम् = औचित्या-
ऽन्वेषणा-ऽऽदि-शून्यम्,

तद् = अनुष्ठानम्
एका-ऽन्तेनैव
भाव-शून्यम् = [आज्ञा-निरपेक्षतया]
इति

विषयेऽपि = वीत-रागा-ऽऽदौ
न
तकः -द्रव्य-स्तवः,

भाव-स्तया-ऽ-हेउओत्ति =
(भाव-स्तवा-ऽ-हेतुतः, इति)
"धर्म-पर-निर्देशात्—
भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वात्"
इत्य-ऽर्थः
उचितः–[यथा-भूतः]
"भाव-स्तवा-ऽङ्ग' न"

अ-प्रधानस्तु भवत्येव ।

‡ हेतु-साध्या-ऽ-विशेष-परिहाराय—
"अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यो न ।"
इति-साध्य' व्याख्यायेम् ।

अत्र—
यद्यपि—
शुद्ध-तत्-तत्-द्रव्य-स्तव-व्यक्तिनाम्,
आज्ञा-ऽ-विशिष्टानां वा
न
भाव-स्तवत्त्वा-ऽवच्छिन्ने हेतुत्वम्,
व्यभिचारात्
अन-ऽनुगमाच्च,
नाऽपि
भाव-स्तव-कारणत्वेन
घट-कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरिव,
आत्मा ऽऽश्रयात्,
तयाऽपि—

अ प्रधान-व्यावृत्तेन—
द्रव्य-स्तवत्त्वेन—
अ-खण्डोपाधिना त [हेतु] त्वम् ,
गडुच्या ऽऽदीनाम्—
ज्वर-हरण-शक्त्यैव,
शक्ति-विशेषेणैव वा ।
विशेषण-द्वय तु–
परिचायकम् ।
"उचिता ऽ प्रधानयोर्द्रव्य व्यवहार-भेदस्तु
द्रव्य-शब्दस्य नाना-ऽर्थत्वात् ।"
इति युक्त पश्यामः * ॥३८॥

‡ आनुषङ्गिक-फल-मात्रा-ऽनौचित्यम् ।" इत्यऽनुशास्ति :—

भोगा-ऽऽइ-फल-विसेसो उ अत्थि एत्तो वि विसय-भेएणं ।
तुच्छो य तओ, जम्हा हवइ पगार-ऽ'तरेणाऽवि. ॥३९॥

॥ पञ्चा० ६-१५ ॥

भोगा ऽऽदि-फल विशेषस्तु =
सासारिक एव
अस्ति,
अतोऽपि = द्रव्य-स्तवात्
तुच्छस्तु–
असौ = भोगाऽऽदि-फल-विशेष .
यस्मात्—

विषय-भेदेन = वीतराग विषय-
विशेषेण
[स्तूयमान-विशेषेण]
प्रकारा ऽन्तरेणाऽपि = अ-काम-
निर्जरा ऽऽदिनाऽपि
भवति ॥३९॥

‡ "उचिता-ऽनुष्ठानत्वे को विशेषो भाव-स्तवात् ?" इति,

‡ अत्राऽऽह, —

उचिया-ऽणुट्ठाणाओ विचित्त-जइ-जोग-तुल्लमो एस.।
जं ता कह दव्व-थवो ? तद्-दारेणऽप्प-भावाओ. ॥४०॥

पञ्चा० ६-१६ ॥

* न ज्ञायते भावोऽस्य समग्र प्रवेश निवेश-सदर्भस्य सम्यक्तया । सपादक ।

‡ उचिता-ऽनुष्ठानात् = कारणात्
त्रिचित्र-यति-योग-तुल्य एव
एषः = [विहितत्वात्]।

यद् = यस्मात्,
तत् = तस्मात्
कथम्
द्रव्य-स्तवः = एव अस्ति ?
[भाव-स्तव एवाऽस्तु ।]

‡ अत्रोत्तरम्, :—
तद्-द्वारेण = द्रव्य-द्वारेण

अल्प-भावात् = स्तोक-भावोप-
पत्तेः ॥ ४० ॥

"अधिकारि-विशेषात्-
अत्र-
अल्प-भावः" इत्याऽऽह, :—

जिण-भवणा-ऽऽइ-विहाण-दारेणं एस होइ सुह-जोगो.।
उचिया-ऽणुट्ठाणं विय तुच्छो जइ-जोगओ. णवरं, ॥४१॥

पञ्चा० ६-१७॥

जिन-भवना-ऽऽदि-विधान-द्वारेण =
द्रव्या-ऽनुष्ठान-लक्षणेन
एषः
भवति
शुभ-योगः = शुभ-व्यापारः ।

ततश्च-
उचिता-ऽनुष्ठानमऽपि च = सद्,
एषः
तुच्छः
यति-योगतः = सकाशात् ।
नवरम्,

‡ "मलिना-ऽऽरम्भ-ऽधिकारिक-शुभ-योगत्वेन—
यति-योगाद्-
अल्पत्वम्,
तुल्यत्वं च
प्रायः साधर्म्यण ।" इति-भावः ॥४१॥

‡ तथा चाऽऽह, :—

सव्वत्थ णिर-ऽभिसंगत्तणेण जइ-जोगमो महं होइ ।
एसो उ अभिसंगा कत्थइ तुच्छे वि तुच्छो उ. ॥ ४२ ॥

॥ पञ्चा० ६-१८ ॥

सर्वत्र-
निर-ऽभिष्वङ्गत्वेन=हेतुना
यति योग एव
महान्
भवति=अतः सकाशात् ।

एष तु = द्रव्य-स्तवः
अभिष्वङ्गात्=कारणात्
कथचित्—
तुच्छेऽपि-वस्तुनि
तुच्छ एव ॥ ४२ ॥

जम्हा उ अभिस्सगो जीवं दूसहे णियमओ चेव ।
तद्-दूसियस्स जोगो विस-घारिय-जोग-तुल्लो उ ॥४३॥

यस्मात्तु,
अभिष्वङ्ग =प्रकृत्यैव
जीवम्–
दूषयति
नियमत एव=तथा ऽनुभूते ।

तथा = दूषितस्य
योग =सर्व एव
तत्त्वत —
विष-घारित-योग तुल्यः=अ शुद्ध ,
इति ॥ ४३ ॥

जइणो अ-दूसियस्स हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स ।
सुद्धो अ उवादेए, अ-कलंको सव्वहा सो उ. ॥ ४४ ॥

॥ पञ्चा० ६ २० ॥

यते·
अ दूषितस्य=सामायिक भावेन
हेयात्
सर्वथा
निवृत्तस्य=तत्-स्य भावतया
शुद्धश्च
उपादेये–वस्तुनि आज्ञा प्रवृत्त्या,

अतः —

अ-कलङ्कः [सः]
सर्वथा एव=यति-योगः ।

‡ "शुभ योग-सामान्य-जन्यता-ऽवच्छेदक-फल-वृत्ति-जाति-व्याप्य-जात्य-
ऽवच्छिन्नं प्रत्येव
सा-ऽभिष्वङ्ग-निर-ऽभिष्वङ्ग-शुभ योगानां
हेतुत्वात्—
एतदुपपत्तिः ।" इति-न्याय-मार्गः ॥ ४४ ॥,

‡ [अनयोरेव] उदा-ऽऽहरणेन—
उक्त-स्वरूप-व्यक्तिमाऽऽह :—

अ-सुह-तरंडुत्तरण-प्पाओ दव्व-त्थओऽ-समत्थो य ।
इयरो पुण णईमा-ऽऽइसु समत्थ[त्त]-बाहूत्तरण-कप्पो ॥४५॥

॥ पञ्चा० ६-२१ ॥

‡ अ-शुभ-तरण्डोत्तरण-प्रायः=
कण्टका-ऽनुगत-शाल्मली-तरण्डोत्तरण-तुल्यः
द्रव्य-स्तवः = सा-ऽपायत्वात्
अ-समर्थश्च,
तत एव=[सिद्धय-ऽ-सिद्धेः] ।

नद्या-ऽऽदिषु = स्थानेषु
इतरः पुनः = भाव-स्तवः
समर्थ[स्त]-बाहूत्तरण-कल्पः = तत एव मुक्तेः ॥४५॥

कडुओ[अ-ओ]सहा-ऽऽइ-जोगा मंथर-रोग-सम-सण्णिहो वा वि।
पढमो विणोसहेणं तक्खय-तुल्लो य बीओ ॥ ४६ ॥

॥ पञ्चा० ६-२२ ॥

‡ कटुकौषधा-ऽऽदि-योगात्
मन्थर-रोग-शम-सन्निभो
वाऽपि=विलम्बित-रोगोपशम-तुल्यो वाऽपि
प्रथमः—द्रव्य-स्तवः ।

विनौषधेन=स्वत एव
तत्-क्षय-तुल्यश्च = रोग-क्षय-कल्पश्च
द्वितीयः—भाव-स्तवः ।
इति ॥ ४६ ॥

अनयो फलमाऽऽह, —

पढमाउ कुसल-बंधो, तस्स विवागेण सु-गईमा-ऽऽईया ।
तत्तो परंपराए बिईओ वि हु होइ कालेणं ॥ ४७ ॥

पञ्चा० ६-२३ ॥

प्रथमात्=द्रव्य-स्तवात्	कुशल बन्ध = भवति, श रा ग-योगात् ।
तस्य=कुशल बन्धस्य विपाकेन=हेतुना	सु गत्या ऽऽदय =सु-गति सपद्-विवेक प्रभृतय ।
ततः = द्रव्य स्तवात् परम्परया द्वितीयोऽपि=भाव स्तवोऽपि	भवति कालेन=अभ्यासत ॥४७॥

विशेषतः—

इदमेवाऽऽह, :—

जिण-बिंब-पइट्ठावण-भाव-ऽज्जिय-कम्म-परिणइ-वसेणं ।
सु-गइअ पइ-ट्ठावणमऽण-ऽहं सइ अप्पणो जम्हा ॥४८॥

पञ्चा० ७ ४५ ॥

जिन बिम्ब प्रतिष्ठापन भावा ऽर्जित कर्म-परिणति वशेन=स्वेतर म [illegible] कारण मेलन-सामर्थ्येन सु-गतौ	प्रतिष्ठापनम् अन-[illegible]घम् सदा आत्मनः, यस्मात्=कारणात् ४८॥

तथा च—

माह, —

तत्थ-ऽवि य साहु-दंसण-भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ गुण-रागो ।
काले य साहु-दंसणं जह-क्कमेण गुण-करं तु ॥ ४९ ॥

॥ पञ्चा० ७-४६ ॥

तत्राऽपि च = सु-गतौ
साधु-दर्शन-भावा-ऽर्जित-कर्म-
णस्तु = सकाशात्
गुण-रागः = भवति ।

काले च-
साधु-दर्शनम् = जायते,
यथा-क्रमेण-
गुण-करं तु
तत एव ॥४९॥

"पडिबुज्झिस्संत ऽण्णे" भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ पडिवत्ती ।
भाव-चरणस्स जायइ. एअं चिय संजमो सुद्धो. ॥५०॥

पञ्चा० ७-४७ ॥

"प्रतिभोत्स्यन्ते
अन्ये = प्राणिनः, इति"
भावा-ऽर्जित-कर्मणस्तु = सकाशात्
प्रतिपत्तिः
भाव-चरणस्य = मोक्षैक-हेतोः
उप-जायते ।
तद्,
एतदेव = भाव-चरणम्
संयमः
शुद्धः ।
इति ॥ ५० ॥

भाव-त्थओ अ एसो थोअव्वोचिय-प्पवत्तिओ णेओ. ।
णिर-ऽवेक्खा-ऽऽणा-करणं कय-किच्चे हंदि उचियं तु. ॥५१॥

भाव-स्तवश्च
एषः = शुद्ध-संयमः
स्तोतव्योचित-प्रवृत्तेः = कारणात्
ज्ञेयः [विज्ञेयः] ।

तथा हि—

निर ऽपेक्षा-ऽऽज्ञ-करणमेव | हन्दि
कृत कृत्ये = स्तोतव्ये | उचितम्,—नाऽन्यत्, निर ऽ
पेक्षत्वात् ॥ ५१ ॥

एअं च भाव-साहुं[हू]विहाय, नऽण्णो चएइ काउं जं [जे]।
सम्मं तग्गुण-नाणा-ऽभावा तह कम्म-दोसा य ॥५२॥
पञ्चा० ६-२५ ॥

एतच्च = एवम्-आज्ञा करणम् | नाऽन्यः = क्षुद्रः
भाव साधुम् | शक्नोति
विहाय = त्यक्त्वा, | कर्तुम्,
सम्यग् | तद्-गुण-ज्ञाना-ऽ-भावात्,

इत्थम्—
आज्ञा करण-गुण ज्ञाना-ऽ भावात्,
करणस्याऽपि—
रत्न-परीक्षा-न्यायेन,
बुद्धय् पायत्वात् ।

तथा, | कर्म-दोषाच्च = चारित्र-मोहनीय-
कर्मा ऽपराधाच्च ॥ ५२ ॥

दुष्करत्वे कारणमाऽऽह, :—

जं एअं अट्ठा-रस-सील-ऽंग-सहस्स-पालणं णेयं ।
अच्च-ऽंत-भाव-सारं ताइं पुण हुंति एआइं, ॥५३॥

यद् = यस्मात्, | अष्टा-दश शीला ऽङ्ग-पालनम्
एतद् = अधिकृता ऽऽज्ञा करणम् | ज्ञेयम्
= | अत्य ऽन्त-भाव सारम् ।
तानि पुन = शीला ऽङ्गानि | एतानि = वक्ष्यमाण-
भवन्ति | लक्षणानि ॥ ५३ ॥

जोए करणे सण्णा इंदिय-भोमा-ऽऽइ समण-धम्मेय ।
सील-ऽंग-सहस्साणं अट्ठा-रसगस्स णिप्फत्ती ॥ ५४ ॥
पञ्चा० १४-३ ॥

योगाः = मनो-व्यापारा-ऽऽदयः,
करणानि = मनः-प्रभृतीनि,
संज्ञाः = आहारा-ऽभिलाषा-ऽऽद्याः,
इन्द्रियाणि–स्पर्शना-ऽऽदीनि,
अस्मात् कदम्बकात्–
शीला-ऽङ्ग-सहस्राणाम् =
चारित्र-हेतु-भेदानाम्

भूम्याऽऽदयः = पृथ्व्य ऽप्-तेजो-वायु-
वनस्पति द्वि त्रि चतुः-पञ्चे-
न्द्रिया-ऽ-जीवाः,
श्रमण-धर्मश्च = क्षान्त्या-ऽऽदयः ।
अष्टा-दशकस्य
निष्पत्तिः = भवति ।

[व्यासा-ऽर्थस्त्वाऽऽह], :— इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ५४ ॥

करणा-ऽऽइ, तिण्णि जोगा मणमा-ऽऽईणि उ हुंति, करणाइं. ।
आहारा-ऽऽई सण्णा, सवणा[सोता]ऽऽइं इंदिया पञ्च, ॥५५
भोमाऽऽइ णव, अ-जीव-काओ अ पुत्थ-पणगं च, ।
खंता-ऽऽइ-समण-धम्मो. एवं सइ भावणा एसा. :– ॥५६॥
पञ्चा० १४-१५ ॥

स्पष्टे ॥ ५५-५६ ॥

[करणा-ऽऽदयः = कृत-कारिता-ऽनु-
मति-रूपाः,
त्रयो योगाः = प्रति-करणम्,
मनः-आदीनि=मनः-आदीनि तु भवन्ति
करणानि मनो-वाक्-काय-रूपाणि
त्रीण्येव,
आहारा-ऽऽदि-संज्ञा. = चतस्रः,
आहार-भय-मैथुन-परिग्रह-विषयाः

श्रोत्रा-ऽऽदीनि = पश्चा-ऽनु-पूर्व्या
इन्द्रियाणि पञ्च:=स्पर्शन-रसन-घ्राण
चक्षुः-श्रोत्राणि,
"उत्तरोत्तर-गुणा-ऽवाप्ति-साध्यानि
शीला-ऽङ्गानि" इति ज्ञापना-ऽर्थम्–
इन्द्रियेषु पश्चा-ऽनुपूर्वी ।"
इति-गाथा ऽर्थः ॥५६॥

भ मा ऽइ णव जीवा, अ-जीव-काओ य, समण-धम्मो उ ।
खंता ऽऽइ दस-पगारो. एवं ठीए भावणा एसा, :—॥५६॥

भौम्या ऽऽदय.
नव-जीवाः = पृथ्व्य ऽप्-तेजो वायु-वनस्पति-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया ,
अ-जीव-कायश्च = पुस्तक-चर्म-तृण-सुषिर-पञ्चक-रूपः,

श्रमण धर्मस्तु
क्षान्त्या-ऽऽदय.
दश-प्रकारः-क्षान्ति-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति तपः- संयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य ब्रह्म चर्य रूप' ।

एवम्—
स्थिते = यन्त्रे सति,
तत्र—

भावना
एषा, :-वक्ष्यमाणा, —
शीला-ऽङ्ग निष्पत्ति-विषया ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ५६ ॥]

भावनामेवाऽऽह, :—

ण करेइ मणेणा ऽऽहार-सण्णा-विप्पजढगो उ णियमेणं ।
सोइंदिय-संवुडो पुढवी-काय-आरंभं खंति जुओ. ॥५७॥
पञ्चा० १४ १६ ॥

न करोति
मनसा
["किं-भूतः सन् ?"]
आहार-सञ्ज्ञा विप्रमुक्तस्तु

नियमेन,
[तथा-]
श्रोत्रेन्द्रिय-संवृत्तः
["किम् ?" इत्याऽऽह, :—]
पृथ्वी-काया-ऽऽरम्भम्
क्षान्त्या-ऽऽदि युक्त ॥ ५७ ॥

इय मद्दवा-ऽऽइ-जोगा पुढवी-काये हवंति दस भेया ।
आउ-काया-ऽऽईसु वि. इय एए पिंडियं तु सयं. ॥५८॥
पञ्चा० १४-७ ॥

एवम्—	पृथ्वी-काये
मार्दवा-ऽऽदि योगात् = "मार्दव-युक्तः।" "आर्जव युक्तः" इति-श्रुत्या,	भवन्ति
	दश-भेदाः
	यतः, दश क्षान्त्या-ऽऽदि-पदानि।
अप् काया-ऽदिष्वऽपि-	एवम् = प्रत्येकं दशैव।
एते = सर्व एव	शतम्-
पिण्डितं तु	यतः-दश पृथ्व्या-ऽऽदयः ॥५८॥

सो इंदियेण एअं, सेसेहिं वि जं इमं, तओ पञ्च।
आहार-सण्ण-जोगा इय, सेसाहिं, सहस्स-दुगं ॥५९॥

पञ्चा० १४-८॥

श्रोत्रेन्द्रियेण	शेषैरऽपि = इन्द्रियैः
एतद् = लब्धम्	यत्
	इदम् = शतमेव लभ्यते।
ततः =	पञ्च = शतानि, पञ्चत्वादिन्द्रियाणाम्।
आहार-संज्ञा-योगात्-	एतानि = पञ्च।
एवम्—	शेषाभि [रऽपि]ः = [भय-संज्ञा-ऽऽद्याभिः,] पञ्च पञ्च।
सहस्र-द्वयम् = निर-ऽवशेषम्,	यतः, चतस्रः संज्ञाः, इति, ॥५९॥

एअं मणेणं वयमा-ऽऽइएसु एअं ति, छस्सहस्साइं।
ण करणं, सेसेहिं पि य, एए, सव्वेवि अट्ठारा ॥६०॥

पञ्चा० १४-९॥

एतद्-	मनसा = सहस्र-द्वयं लब्धम्।
वागा-ऽऽदिना	एतत् = सहस्र-द्वयम्।
इति-	षट्-सहस्राणि = "त्रीणि करणानि" इति [कृत्वा]।

"न करोति," = इत्य ऽनेन योगेन एतानि ।

शेषेणाऽपि च = योगेन	एतानि = षट् [षट्] इति ।
एतानि सर्वाणि	अष्टादश = [भवन्ति] "त्रीणि योगाः" इति कृत्वा ॥६०॥

इत्थ इमं विण्णेय अ इदं-पज्जं तु बुद्धिमंते ह, ।
'एकम्मि वि सु-परिसुद्धं सील-ऽ'गं सेस-सब्-भावे ॥६१॥

पञ्चा० १४-१० ॥

अत्र = शीलाऽङ्गा-ऽधिकारे इदम्- विज्ञेयम् यदुत, :—	ऐदम्पर्यम् = भावा ऽर्थ-गर्भ-रूपम् बुद्धिमद्भिः = पुरुषैः, :—
"एकमऽपि सु परिशुद्धम् - यथा ख्यातम् ["यादृक्-शीला-ऽङ्ग मुच्यते, तादृक्" इत्य-ऽर्थ. ।]	शीलाऽङ्गम् = शेष शीला-ऽङ्गम् शेष-सदू-[तद ऽपर-शीला ऽङ्ग-] भावे = [एव] नियत भवति ॥६१॥

तत्र—

निदर्शनमाऽऽह, :—

इक्को वाऽऽय-पएसो अ संखेअ पएस-संगओ जहउ, ।
एअंपि तहा णेयं, स-तत्त-चाओ इयरहा उ. ॥६२॥

पञ्चा० १४-११॥

एकोऽपि- आत्म-प्रदेशः = अत्य ऽन्त सूक्ष्म रूप अ-सङ्ख्येय प्रदेश-सङ्गतः = तद- ऽन्या ऽ-विना-भूत यथैव - केवलस्याऽ-सम्भवात्,	एवम्— एतदऽपि = शीला ऽङ्गम् तथा = अन्या ऽ विना भूतमेव ज्ञेयम् ।

इतरथा तु=केवलत्वे
[आत्म-प्रदेशत्व-शीला-ऽङ्गत्वा-ऽ-भावः]
स्व-तत्त्व-त्यागः=आत्म-प्रदेशत्वमऽपि
न स्यात्।

तद्वत्—

शीला-ऽङ्गत्वमऽपि च न स्यात्,

"समुदाय-नियतत्त्वात् समुदायिनः" इति ॥६२॥

एतदेव भावयति, :—

जम्हा समग्गमेयंपि सव्व-सा-ऽ-वज्ज-जोग-विरईओ।
तत्तेणेग-स-रूवं ण खंड-रूवत्तणमुवेइ ॥ ६३ ॥

पञ्चा० १४-१३ ॥

यस्मात्
समग्रम्
एतद-ऽपि=शीला-ऽङ्गम्-
सर्व-सा-ऽ-वद्य-योगात्-

विरतिरेव=अ-खण्डत्वेन।
[अ-खण्डा] [तत्त्वेन]
एक-स्व-रूपम्=वर्तते,
न
खण्ड-रूपत्वम्
उपैति।

"अतः,

केवला-ङ्गा-ऽ-भावः" इति ॥६३॥

ननु तारा-ऽऽदौ-

प्रत्य-ऽक्षतः—

अ-खण्ड-रूप-बाधः ?" इति।

अत्राऽऽह, :—

एअं च एत्थ एवं विरइ-भावं पडुच्च दट्ठव्वं, :— ।
ण उ बज्झंपि पवित्तिं, जं सा भावं विना वि भवे ॥६४॥

पञ्चा० १४-१२ ॥

‡ एतच = शीलम्
अत्र
एवम् = सर्वं सा-ऽन्द्य [योग]
निवृत्त्या-ऽऽत्मपत्म्

विरति-भावम् = आन्तरम्
प्रतीत्य
द्रष्टव्यम् ,

न तु
बाह्यामपि

प्रवृत्तिम् = प्रतीत्य,

यत्
सा = बाह्या प्रवृत्ति.

भाव विनाऽपि
भवेत् ।

‡ तथा च—
मयुक्तारा ऽऽरी -
"द्रव्यत
अपू काया ऽऽत्म मभवेऽपि-
प्रमावा ऽ भावात्
न भावत सः"
इति न शीला ऽङ्ग नह्." ॥ ६४ ॥

‡ तदाऽह, —

जह उस्सग्गम्मि ठिओ खित्तो उदगम्मि केण वि तवस्सी,।
तव्-वह-पवित्त-कायो अ-चलिअ भावोऽ-पवत्तओ अ. ॥६५॥

पञ्चा० १४ १४ ॥

यथा,
[illegible] = [illegible]
स्थित.
[illegible]
[illegible] —
[illegible] = [illegible]
[illegible]

उदके
केनापि
तपस्वी = [illegible],

[illegible] भाव
[illegible]
एव = [illegible] ।

‡ "बुद्धि-पूर्वक-प्रवृत्तेरेव प्रवृत्तित्त्वात्,
आध्या-ऽऽत्मिक-निवृत्तौ—
बाह्य-प्रवृत्तेरऽ-विरोधित्वाच्च ।"

‡ "यत्तु—
"तत्र—
मध्य-स्थस्य योगो न हेतुः,
किन्तु—
वध्यस्यैव ।" इति-वृबोदन्वतो मतम्,
तत् तुच्छम्, अति प्रसङ्गात् ।
"एगया गुण-समियस्स रीयओ काय-संफास-सम-ऽणु-च्चिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंति" त्ति-(श्री-आचारा-ऽङ्ग सू० १५८) इति आगम-विरोधाच्च,
योगवतः काय-संस्पर्शस्यैक-काय-व्यापारत्वात् ।" इति-अन्यत्र विस्तरः ॥६५॥

‡ अ-बुद्धि-पूर्व-प्रवृत्ति-दृष्टा-ऽन्ते,—
बुद्धि-पूर्व-प्रवृत्ति-स्थलेऽपि—
माध्य-स्थ्य-हेत्वैक्येन योजयति, :—
[दार्ष्टा-ऽन्तिक-योजनामाऽऽह, :—]

एवंचिय मज्झ-त्थो आणाइ उ कत्थइ पयट्टंतो ।
सेह-गिलाणा-ऽऽइ-ऽट्ठा, अ-पवत्तो चेव णायव्वो. ॥६६॥

पञ्चा० १४-१५ ॥

एवमेव
मध्य-स्थः = सन्
आज्ञातः
क्वचित्
प्रवर्तमानः = वस्तुनि

शैक्ष-[शिक्षक] ग्लाना-ऽऽद्य-ऽर्थम् =
पुष्टा-ऽऽलम्बनतः [आलम्बनात्],
अ-प्रवृत्तः
एव
ज्ञातव्यः=[तत्त्वतः] ।

"ज्ञाना-ऽऽद्य-ऽर्थ-प्रवृत्तावाऽऽश्रवस्याऽपि
परिश्रवत्वात्" इति ॥ ६६ ॥

आणा-पर-तंतो सो, सा पुण सव्व-ण्णु-वयणओ चेव. ।
एग-ऽ'त-हिया विज्जग-णाएणं सव्व-जीवाणं. ॥ ६७ ॥

पञ्चा० १४-१६ ॥

१ आज्ञा पर-तन्त्र

सा पुन

एका ऽन्त-हिता = वर्तते

असौ = प्रवर्तकः ।

सर्व-ज्ञ-वचनत एव = आज्ञा ।

वैद्यक ज्ञातेन,

हितमेतदऽपि—

सर्व जीवानाम् = इष्टा ऽ इष्टोपकारात्, इति ॥६७॥

भावं विणा वि एवं होइ पवित्ती. ण बाहए एसा ।
सव्वत्थ अणा-ऽभिसंगा वि-रइ-भावं सु-साहूस्स. ॥६८॥

पञ्चा० १४-१७ ॥

१ भावम् = विरुद्ध भावम्

विनाऽपि

एवम् = [उपतपत]

१ न

बाधते = च

एषा

सर्वत्र

भवति

प्रवृत्ति = क्वचित्

अन-ऽभिष्वङ्गात् = कारणात्

विरति भावम

सु साधो. ।

"उपेयोपायेऽन्या-व्यतिरिक्त भावस्यैव अभिष्वङ्गकत्वात्,

निर-ऽभिष्वङ्ग कर्मणश्च

अ बाधकत्वात्' इति भाव. ॥६८॥

उस्सुत्ता पुण बाहइ स-मइ-विगप्प-सुद्धा वि णियमेणं. ।
गीय-णिसिद्ध-पवज्जण-रूवा णवरं णिर-ऽणुबंधा. ॥६९॥

पञ्चा० १४-१८ ॥

‡ न च	न
गीताऽ-र्थः=सन्	निवारयति=अ-हित-प्रवृत्तम्
अन्यम्–अ-गीता-ऽर्थम्	योग्यताम्
	मत्वा=निवारणीयस्य ।
एवम्—	चरणम्–गीता-ऽर्था-ऽ-गीताऽर्थयोः
द्वयोरऽपि—	परिशुद्धम्=वारण-प्रतिपत्तिभ्याम्,
अन्यथा	नैव = उभयोरपि ॥७३॥

ता, एवं विरइ-भावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो ।
णियमेणं अट्ठा-रस-सील-ऽंग-सहस्स-रूवो उ. ॥७४॥

॥ पञ्चा० १४-२३ ॥

‡ तत् = तस्मात् ,	भवति
एवम्=उक्तवद्	ज्ञातव्यः = इति
विरति-भावः	णियमेणं = अवश्यंतया
संपूर्णः = समग्रः	अष्टा दश-शीला-ऽङ्ग-सहस्र-रूप एव
अत्र = व्यतिकरे	

"सर्वत्र पाप-विरतेरेकत्त्वात्" इति भावः ॥७४॥

उणत्तं ण कयाइ वि इमाणं, संखं इमं तु अहिगिच्च, ।
जं, एय-धरा सुत्ते णिहिट्ठा वंदणिज्जा उ. ॥७५॥

पञ्चा० १४-२४ ॥

‡ उनत्वम्	कदाचिदऽपि
न	एतेषाम्–[शीला-ऽङ्गानाम्],
सङ्ख्याम् = एव	अधिकृत्य = आश्रित्य,
एताम्	

यत् = यस्मात्,
एतद्-धराः–अष्टा दश शीला-ऽङ्ग
सहस्र-धारिण
सूत्रे=प्रतिक्रमणा-ऽऽख्ये
निर्दिष्टा
वन्दनीयाः=नाऽन्ये ।

"अट्ठा-रस सहस्स-सील ऽङ्ग-धरा
[अट्ठा रस-सील ऽङ्ग सहस्स धारा]"
इत्या ऽऽदि वचनात् । [आवश्यक-सूत्रे]

‡ इद तु-बोध्यम्—
यत्-किञ्चिदेका-ऽऽद्युत्तर गुण-हीनत्वेऽपि—
मूल गुण स्थर्येण—
चारित्रवता योग्यतया—
शीला-ऽङ्ग सङ्ख्या पूरणीया,
प्रतिज्ञा-कालीन-सयम स्थाना-ऽन्य-सयम-स्थानाना–
षट्-स्थान पतिताना च
उचतवदेव
तुल्यत्वोपपत्तेः,
"सजम-ट्ठाण-ठियाणं किइ कम्म
पारिराण भइयव्व,"
इत्या ऽऽद्युपपत्तेश्च ।"
इत्य ऽधिकमऽस्मत्-कृत गुरु-तत्त्व विनिश्चये ।
"उत्सर्ग-विषयो वाऽयम्" ॥ ७५ ॥

‡ तदाऽऽह, —

ता, संसार-विरत्तो अण-ऽ'त-मरणा-ऽऽइ-रूपमेअं तु ।
णाउं एअ-विउत्तं मोक्खं च गुरूवएसेणं. ॥ ७६ ॥

पञ्चा० १४-२५ ॥

‡ यतः,
दुष्करमेतच्छील सपूर्णम्—

तत् = तस्मात्,
संसारात् विरक्तः = सन्
(१) अन-ऽन्त-मरणा-ऽऽदि-
रूपम् = "आदिना-जन्म-जरा-ऽऽदि-ग्रहः"
एतमेव = संसारम्
ज्ञात्वा,
(२) एतद्-वियुक्तम् = मरणा-ऽऽदि-वियुक्तम्,
मोक्षं च = ज्ञात्वा
गुरूपदेन = शास्त्रा-ऽनुसारेण ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ७६ ॥

(तस्मात्, संसार-विरक्तोऽन-ऽन्त-मरणाऽऽदि-रूपमेतम्, एतद्-वियुक्तं च मोक्षं गुरूपदेशेन ज्ञात्वा, इत्य-ऽन्वयः ।– संपादकः।)

परम-गुरुणो आणं[०णो अ अण-ऽहे]आणाए गुणे, तहेव दोसे य, ।
मोक्ख-ऽत्थी पडिवज्जिअ भावेण इमं विसुद्धेणं, ॥ ७७ ॥
पञ्चा० १४-२६ ॥

(३) परम-गुरोश्च = भगवतः
आज्ञाम्,
(४) [अनऽ-घात्]
आज्ञायाः
गुणात् [ज्ञात्वा],
(५) तथैव—
दोषाँश्च = विराधनायाः,
(६) मोक्षा-ऽर्थी
संप्रतिपद्य च
भावेन
इदम् = शीलम्
विशुद्धेन ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥७७॥

विहिया-ऽणुट्ठाण-परो, सत्त-ऽणुरूवमियरं पि संधंतो, ।
अन्नत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्म दोस-ऽवि, ॥ ७८ ॥
पञ्चा० १४-२७ ॥

(७) विहिता-ऽनुष्ठान-परः
(८) शक्त्य-ऽनुरूपम् = यथा-शक्ति
इतरदऽपि = अ-शक्यमऽपि [शक्त्य-ऽनुचितम्]
संधयन् = भाव-प्रतिपत्त्या,

(९) अन्यत्र = विहिता-ऽनुष्ठानात्
अनुपयोगात् = अ-शक्तेः [शक्ते]
क्षपयन्
कर्म-दोषान् = प्रतिबन्धकान्
अपि ॥ ७८ ॥

सव्वत्थ निर-ऽभिसंगो, आणा-मित्तम्मि सव्वहा जुत्तो, ।
एग-ऽग्ग-मणो धणियं तम्मि, तहाऽ-मूढ-लक्खो य, ॥७९॥
पञ्चा० १४-२८ ॥

(१०) सर्वत्र=वस्तुनि
निर ऽभिष्वङ्गः = मध्य-स्थ ,
(११) आज्ञा मात्रे = भगवत
सर्व्वथा
युक्तः = "आराधनैक निष्ठ" ["वचनैक निष्ठ"] इत्य ऽर्थः,
(१२) एका-ऽग्र मना =अन्य विस्रोतसिका रहितः
(धणियं) = [अत्य ऽर्थं विस्रोतसिका रहितः],
तस्याम् = आज्ञायाम्
तथा
(१३)अ-मूढ-लक्ष्यश्च = सन्, [सत् प्रतिपत्त्या] ॥७९॥

तह, तेल्ल-पत्ति-धारग-णाय-गओ, राहा-वेह-गओ वा, ।
एअं चएइ काउं, ण उ अण्णो खुद्द-चित्तो, त्ति ॥८०॥
पञ्चा० १४-२९ ॥

तथा—
(१४) तैल पात्री धारक ज्ञात-गतः=अपाया ऽवगमात्–
अ-प्रमत्तः,
(१५) राधा-वेध-गतो वा,
कथानके सु प्रतीते ।
[अत एव]

एतत्=शीलम्	न तु
शक्नोति	अन्यः
कर्तुम् = पालयितुम्,	क्षुद्र-चित्तः = [क्षुद्र-सत्त्वः] अन-ऽधिकारित्वात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥८०॥

‡ उपचयमाऽऽह, :—

एसोच्चिय णिद्दिट्ठो पुव्वा-ऽऽयरिएहिं "भाव-साहु" त्ति।
हंदि पमाण-ट्ठिअ-ऽत्थो, तं च पमाणं इमं होइ, :- ॥८१॥

॥ पञ्चा० १४-३० ॥

अत एव=अस्य दुर-ऽनुचरत्वात् कारणात्-	"भाव-साधुः" = "पारमार्थिक-यतिः" [इत्य-ऽर्थः]
निर्दिष्टः = कथितः	"हंदि" = इत्युपदर्शने
पूर्वा-ऽऽचार्यैः=भद्र-बाहु-प्रभृतिभिः	प्रमाण-स्थिता-ऽर्थः = [प्रमाणेनैव] ना-ऽन्यथा ।
तच्च—	इदम्
प्रमाणम् = साधु-व्यवस्थापकम्	भवति = वक्ष्यमाणम्, :—॥८१॥

"सत्थुत्त-गुणो साहू, ण सेस," "इइ णे[णो] पइण्ण," इह हेऊ, :-।
"अ-गुणत्ता" इति णेओ, दिट्ठ-ऽन्तो पुण, :-सु-वण्णं व (व्व) ॥८२॥

पञ्चाशक १४-३१ ॥

"शास्त्रोक्त-गुणवान्-	न
साधुः=[एवं-भूत एव],	शेषाः = शास्त्र-बाह्याः" ।
"इति	
नो = अस्माकम्	प्रतिज्ञा = पक्षः ।"
इह = "न शेषाः" इत्य-ऽत्र	"अ-गुणत्वात्," इति
हेतुः = साधकः	विज्ञेयः="तद्-गुण-रहितत्वात्" इत्यऽर्थः।

दृष्टा-ऽन्तः
पुनः, —

सु वर्णम्
इव = "अत्र व्यतिरेकत"
इत्य-ऽर्थः ॥ ८२ ॥

‡ सु-वर्ण गुणानाऽऽह, :—

विस-घाइ-रसा-ऽऽयण-मंगल-ऽ-त्थ-विणए पयाहिणा-ऽऽवत्ते,।
गुरुए, अ-डज्झे, अ-कुत्थे अट्ठ सु-वण्ण-गुणा हुंति. ॥८३॥

पञ्चा० १४-३२ ॥

विष-घाति = सु-वर्णम्,
तथा—
रसा ऽऽयनम् = वय स्तम्भनम्,
मङ्गला-ऽर्थम् = मङ्गल-प्र-योजनम्,
विनीतम् = कटका ऽऽदि योग्यतया,

प्र-दक्षिणा-ऽऽवर्त्तम् = अग्नि-तप्तम्-
प्रकृत्या,
गुरु = सारतया ।
अ-दाह्यम् = सारतयैव ।
अ-कुथनीयम् = अत एव ।

एवम्—
अष्टौ
सु वर्ण-गुणाः

भवन्ति = अ-साधारणा ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ८३ ॥

दार्ष्टा ऽन्तिकमऽधिकृत्याऽऽह, :—

इह, मोह-विसं घायइ,-सिवोवएसा रसा-ऽऽयणं होइ ।
गुणओ अ मंगल-ऽत्थं कुणइ, विणीओ अ "जोग्ग" त्ति, ॥८४॥
मग्ग-ऽणुसारि पयाहिणं, गंभीरो गुरुअओ तहा होइ ।
कोह-ऽग्गिणा अ-डज्झो, अ-कुत्थो सइ सील-भावेण. ॥८५॥

पञ्चा० १४ ३३-३४ ॥

इह,—
मोह विष

घातयति = केषांचित्

जुत्ती-सु-वण्णयं पुण सु-वण्ण-वण्णं तु जइ वि कीरिज्जा.।
ण हु होइ तं सु-वण्णं सेसेहिं गुणेहिं अ-संतेहिं. ॥९०॥

पञ्चा० १४-३९ ॥

‡ युक्ति-सु-वर्णम्
पुनः = अ-तात्त्विकम्
सु-वर्ण-वर्णमेव
यद्य-ऽपि
क्रीयते=कथंचिद्,
तथाऽपि–
न
भवति–
तत्
सु-वर्णम्
शेषैः
गुणैः–विष-घातित्वा-ऽऽदिभिः
अ-सद्भिः।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९० ॥

‡ प्रस्तुतमऽधिकृत्याऽऽह, :—

जे इह सुत्ते भणिया साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहू.।
वण्णेणं जच्च-सु-वण्णयं व संते गुण-निहिम्मि. ॥ ९१ ॥

पञ्चा० १४-४० ॥

ये
इह
शास्त्रे
भणिताः
साधु-गुणाः=मूल-गुणाः [णा-ऽऽदयः],
तैः
भवति
असौ
साधुः।

वर्णेन = सता
जात्य-सु-वर्णवत्
सति
गुण-निधौ = विष-धाति-
त्वा-ऽऽदि-रूपे ॥ ९१ ॥

जो साहू गुण-रहिओ भिक्खं हिंडइ, [ण होइ] कहं णु सो साहू ?।
वण्णेणं जुत्ति-सु-वण्णयं वाऽ-संते गुण-निहिम्मि. ॥९२॥

पञ्चा० १४-४१ ॥

यः
साधुः
गुण-रहितः = सन्
भिक्षामऽटति,
[न भवति] (कथं नु)
असौ
साधु ?।

एतावता–
वर्णेन = सता केवलेन
युक्ति-सु-वर्णवत्
अ-सति
गुण-निधौ = विष-घाति-त्वा ऽऽदि-
गुण रूपे ॥ ९२ ॥

उद्दिट्ठ-कडं भुंजइ, छ-क्काय-पमद्दणो, घरं कुणइ, ।
पच्चक्खं च जल-गए जो पियइ, कहं णु सो[साहू?]भिक्खू साहू? ९३

पञ्चा० १४ ४२ ॥

उद्दिश्य
कृतम्
भुङ्क्ते = आकुट्टिकया,
षट्-काय प्रमर्दनः = निर-ऽपेक्षतया,
गृहं करोति = देव-गृह व्याजेन
[देव व्याजेन]
प्रत्य ऽक्षं च
जल गतान् = प्राणिनः
यः
पिबति = आकुट्टिकयैव,
कथम्
नु
असौ
भिक्षुः
साधुः=भवति ?
नैव ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ ९३ ॥

अण्णे उ कसा-ऽऽइआ किर एए ऽत्थ हुंति णायव्वा. ।
एयाहिं परिक्खाहिं साहु-परिक्खेह कायव्वा. ॥ ९४ ॥

॥ पञ्चा० १४-४३ ॥

‡ अन्ये तु = आचार्याः
इत्थमऽभिदधति, :—
"कषा-ऽऽदयः = प्रागुक्ताः
किल
एते = उद्दिष्ट-भोक्तृत्त्वा-ऽऽदयः
अत्र = साध्व-ऽधिकारे
भवन्ति-

ज्ञातव्याः-
[यथा-क्रमम्] ।
इदमुक्तं भवति, :-[किमुक्तं भवति ?]
एताभिः
परीक्षाभिः = निश्चय-प्रकारैः
[भाव-साराभिः]
साधु-परीक्षा
इह
कर्तव्या ।

‡ "समान-धर्म-दर्शन-जनित-साधुत्त्वा-ऽ-साधुत्व-संशय-निरासाय
सद्-वृत्तेन—
साधुत्व-संभावनया
अभ्युत्थानस्य कर्तव्यत्वेऽपि,
औत्तर-कालिकम्—
यथोचितं [यथोत्तर-] परीक्षयैव साध्यम्"
इत्यस्य शास्त्रा-ऽर्थत्वात्, इति-दिग्" ॥ ९४ ॥

‡ निगमयन्नाऽऽह, :—

तम्हा, जे इह सत्थे साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहू. ।
"अच्च-ऽंत-सु-परिसुद्धेहिं मोक्ख-सिद्धि" त्ति काऊणं. ॥९५॥

पञ्चा० १४-४४ ॥

तस्मात्	तैः = कारण-भूतैं
ये	भवति
इह	असौ–
शास्त्रे = भणिताः	साधुः = भाव साधु ,
साधु गुणाः = प्रति दिन-क्रिया ऽऽदयः,	नाऽन्यथा ।
"अत्य-ऽन्तम्–	तैरऽपि,
सु-परिशुद्धैः = उपधा शुद्धैं ,	न द्रव्य-मात्र-रूपैः
	मोक्ष सिद्धिः"
	इति कृत्वा ।

"भावमऽन्तरेण तद-ऽनुपपत्ते. ।"

इति-गाथा-ऽर्थं ॥ ९५ ॥

‡ प्रकृत योजनामाऽऽह, :—

अलमित्थ पसंगेणं. एवं खलु होइ भाव-चरणं तु. ।
"पडिवुज्झिस्संत ऽण्णे" भाव-ऽज्जिय-कम्म-जोएणं. ॥९६॥

अलम्	प्रसङ्गेन=प्रमाणा-ऽभि धाना-ऽऽदिना।
अत्र	
‡ एवम्	भवति
खलु	भाव-चरणम् = उक्त स्व-रूपम् ।

‡ "कुतः ?" [इत्याऽऽह,] .—

"प्रतिभोत्स्यन्ते	इति
अन्ये = प्राणिनः"	भावा-ऽर्जित-कर्म योगेन=जिना-ऽऽयतन नियमेण ।

इति-गाथा-ऽर्थं ॥ ९६ ॥

अ-पडिवडिअ-सुह-चिंता-भाव- ऽज्जिय-कम्म-परिणइए उ. ।
एअस्स जाइ अंतं, तओ स आराहणं लहइ. ॥ ९७ ॥

पञ्चा० ७ ४८ ॥

‡ अ-प्रतिपतित-शुभ-चिन्ता-भावा-ऽर्जित-कर्म-परिणतेस्तु = सकाशात्,

जिना-ऽऽयतन-विषया या [चिन्ता]।
एतस्य=चरणस्य
याति-
ततः
सः

अन्तम्=पारम्,
आराधनाम् -
लभते-शुद्धाम् ॥९७॥

णिच्छय-णया जमेसा चरण-पडिवत्ति-समयओभिइ ।
आ-मरण-ऽंतमऽ(ज)स्सं संजमपडिपालणं विहिणा. ॥९८॥

निश्चय-(नयात्) = मतात्
यद्
एषा = आराधना
चरण-प्रतिपत्ति-समयतः प्रभृति

आ-मरणा-ऽन्तम्
अजस्रम् = (अन-ऽवरतम्)
संयम-परिपालनम्-
विधिना।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ९८ ॥

आराहगो य जीवो सत्त-ऽट्ठ-भवेहिं सिज्झइ णियमा. ।
संपाविऊण उ परमं हंदि अह-क्खाय-चारित्तं. ॥९९॥

‡ आराधकश्च
जीवः = परमा-ऽर्थतः
सप्ता-ऽष्टभिः
"कथम् ?"
संप्राप्य
परमम् = प्रधानम्

भवैः = जन्मभिः
सिध्यति
नियमात्।
हंदि
यथा-ख्यातम्-
चारित्रम् = अ-कषायम्, इति ॥९९॥

दव्व-त्थय-भाव-त्थय-रूवं एअमिह होइ दट्ठव्वं.
अण्णुण्ण-समणुविद्धं णिच्छयओ भणिय-विसयं तु. ॥१००॥

पञ्चा० ६-२७ ॥

‡ द्रव्य-स्तव-भाव स्तव स्व-रूपम् = तद-ऽन्यतरम्	इह
	भवति
एतत् = अन-ऽन्तरोक्तम्	द्रष्टव्यम् , :—
अन्यो-ऽन्य-समनुविद्धम् = गुण-प्रधाना-ऽन्यतर-प्रत्यासत्त्या मियो-व्याप्तम्	निश्चयतः
	भणित विषयमेव = अर्हद्-गो-चरमेव ।

"एक विषयाणाम्—
पुष्पा-ऽऽमीष स्तुति-प्रतिपत्तीनामयोत्तर प्राधान्यम् ॥ १००॥"

"जइणो वि हु दव्व-त्थय-भेओ अणुमोयणेण अत्थि" त्ति.।
एअं च इत्थ णेयं इय सि[सु]द्धं तंत-जुत्तीए. ॥१०१॥

पञ्चा० ६-२८ ॥

‡ "यतेरऽपि	अनुमोदनेन
द्रव्य-स्तव-भेद =द्रव्य-स्तव-लेशा-ऽनुवेध	अस्त्येव ।"
एतच्च—	एवम
अत्र	शुद्धम
ज्ञेयम्=अनुमोदनम्	तन्त्र-युक्त्या = वक्ष्य-माणया, — ॥१०१॥

तंतम्मि वंदणाए पूअण-सक्कार-हेऊ उस्सग्गो ।
जइणो वि हु णिद्दिट्ठो. ते पुण दव्व-त्थय-स-रूवे. ॥१०२॥

पञ्चा० ६-२९ ॥

‡ तन्त्रे=सिद्धान्ते	उत्सर्गः = कायोत्सर्ग
वन्दनायाम्	यतेरऽपि
पूजन-सत्कार-हेतु = "एतद-ऽर्थम" इत्य ऽर्थः	निर्दिष्टः।

"पूअण-वत्तियाए

सक्कार-वत्तियाए" इति-वचनात् ।

तौ पुनः = पूजा-सत्कारौ | द्रव्य-स्तव-रूपौ = नान्य-स्व-रूपौ ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १०२ ॥

मल्ला-ऽऽइएहिं पूआ, सक्कारो पवर-वत्थमा-ऽऽईहिं ।
अण्णे—"विवज्जओ इह," दुहा वि दव्व-त्थओ इत्थ. ॥१०३॥

पञ्चा० ६-३० ॥

माल्या-ऽऽदिभिः
पूजा,
तथा—

सत्-कारः
प्रवर-वस्त्रा-ऽलङ्कारा-ऽऽदिभिः ।

‡ अन्ये
"विपर्ययः"

इह=वचने [प्रवचने]—"

"वस्त्रा-ऽऽदिभिः पूजा,
माल्या-ऽऽदिभिः सत्-कारः" व्याचक्षते ।

‡ "सर्वथा
द्विधाऽपि = यथा तथाऽस्तु [अस्तु]

द्रव्य-स्तवः
अत्र=अभिधेयः" इति ध्येयम् ॥१०३

तत्र—

एव युक्त्य ऽन्तरमाऽऽह, :—

ओसरणे बलिमा-ऽऽई ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं,।
ता एस अणुण्णाओ उचिआणं गम्मइ तेण. ॥ १०४ ॥

पञ्चा० ६-३१ ॥

‡ समवसरणे
बल्या-ऽऽदि = द्रव्य-स्तवा-ऽङ्गम्,
न च
इह—

यद्—
भगवताऽपि = तीर्थ-करेणाऽपि
प्रतिषिद्धम् ।

‡ तद्
एषः = अत्र द्रव्य स्तव
अनुज्ञातः

तेन = तीर्थ-करेण
उचितेभ्यः = प्राणिभ्यः
गम्यते = चेष्टा-समान-शीलेन
मौनेन व्यञ्जकेन ॥१०४॥

न य भयवं अणुजाणइ जोगं मुक्ख-वि-गुणं कयाचिदऽवि।
तय-ऽणुगुणो वि अ तओ ण बहु-मओ होइ अण्णेसिं ? ॥१०५॥
पञ्चा० ६-३२ ॥

न च
भगवान्
अनुजानाति

योगम् = व्यापारम्
मोक्ष-विगुणम्
कदाचिदऽपि = मोहा-ऽ-भावात् ।

तद-ऽनुगुणोऽपि च
असौ = योगः
न

बहु-मतः
भवति
अन्येषाम् ?
किन्तु, बहु-मत एव ।

"इति-अर्थतः—
सोऽपि द्रव्य स्तवः
अनुमति क्रोडी कृतो भवति ।" इति ॥ १०५ ॥

"भाव एव भगवतोऽनुमोद्यः, न द्रव्यम् ।" इत्या-ऽऽशङ्काम्—
सत्-कार्य-नयेन—
द्रव्ये—
भाव-सत्ता ऽभ्युपगमनेन—
निरस्यन्नाऽऽह, :—

"जो चेव भाव-लेसो, सो चेव य भगवओ बहु-मओ उ ।
ण तओ विणेयरेणं. ति," अत्थओ सो वि एमेव " ॥१०६॥
पञ्चा० ६-३३ ॥

‡ य एव
भाव-लेशः,
स एव च
भगवतः
बहु-मतः।

"अ-पुनर्बन्धका-ऽऽदि-चतुर्दश-गुण-स्थाना-ऽन्तर-भावतः,
तदा-ऽऽज्ञा-विषयत्वात्।

तत्र--
इष्ट-साधनता-व्यञ्जक-व्यापारस्यैव
तद-ऽनुमतित्वात्।

हीन-भावत्वेन—
अन-ऽनुमोद्यत्वे,
अति-प्रसङ्गात्।

अवदाम चोपदेश-रहस्ये, :—

"जइ हीणं दव्व-त्थयं, अणुमणेज्जा ण संजमो" त्ति मई,।
ता "कस्स विसुद्ध-जोगं तित्थ-यरो नाऽणुमणिज्जे ?" ॥ त्ति

"न
तकः = भाव-लेशः
विना
इतरेण = द्रव्य-स्तवेन।"

इति
अर्थतः
सोऽपि = द्रव्य-स्तवोऽपि
एवमेव = अनुमत एव ॥ १०६ ॥

एतदेव स्पष्टयति, :—

"कज्जं इच्छंतेणं अण-ऽंतरं कारणं पि इट्ठं तु",।
जह आहार-ज-तित्तिं इच्छंतेणेह आहारो. ॥ १०७ ॥

पञ्चा० ६-३४ ॥

"कार्यम्,
इच्छता
अन-ऽन्तरम् = अ-क्षेप-[मोक्ष-]-फल-
कारि
कारणम्
अपि
इष्टम् = एव भवति।"

"कथम् ?"
यथा—
आहार-जाम्
तृप्तिम्

इच्छता
इह=लोके
आहारः–[इष्टः] दृष्ट ।

इति-गाथा ऽर्थः

‡ "अपा-ऽर्थ-पुद्-गल-व्यवधानेनाऽपि—
भाव स्तवे—
द्रव्य-स्तवस्य हेतुत्वात् ।"
"कथमऽन-ऽन्तर कारणत्वम् ?" इति चेत्—
ऋजु सूत्रा-ऽऽदि-नयेन ।
कथचित्—
तन् नये—
तत् स्थलीया-ऽन ऽन्तर-भाव स्यैव पुरस्कारात् ।
व्यवहार-नयेन तु—
[द्वारेण] द्वारिणोऽन्यथा सिद्धय-ऽभावात्,
अन ऽन्तर-कारणत्वम-ऽविरुद्धमेव ।"
इति व्युत्पादितम्—
अध्या-ऽऽत्म मत-परीक्षा-ऽऽदौ ॥ १०७ ॥
भयना-ऽऽवावऽपि विधिमाऽऽह, :—

जिण-भवण-कारणा-ऽऽइ वि भरहा-ऽऽईणं ण निवारियं तेणं,।
जह तेसि चिय "कामा सल्ल-विसा-ऽऽईहिं णाए[वयणे]हिं. १०८

॥ पञ्चा० ६-३५ ॥

‡ जिन-भवन कारणा-ऽऽद्यऽपि=द्रव्य-
स्तव रूपम्
भरता ऽऽदीनाम् = श्रावकाणाम्
‡ यथा—
तेषामेव = भरता ऽऽदीनाम्
कामाः

न
निवारितम्
तेन = भगवता,
शल्य विषा-ऽऽदिभिः
[वचनैः] = ज्ञातैः= [दृष्टा-ऽन्तैः]
निवारिता ।

"सल्लं कामा, विसं कामा"

इत्याऽऽदि-प्रसिद्धेः ।"

इत्य-ऽर्थः ॥ १०८ ॥

ता, तं पि अणुमयं चिय अ-पडिसेहाओ तंत-जुत्तीए. ।
इय सेसाण वि इत्थं अणुमोअणमा ऽऽइ अ-विरुद्धं. ॥१०९॥

पञ्चा० ६-३६ ॥

‡ तत्,
तदऽपि=जिन भवन-कारणा-ऽऽद्यपि
अनुमतमेव,

अ-प्रतिषेधात् = कारणात्
तन्त्र-युक्त्या, :—

"अ-निषिद्धमऽनुमतम्" इति तन्त्र-युक्तिः ।

‡ "इय०" एवम् = भगवदऽनुज्ञानात्
शेषाणामऽपि = साधूनाम्

अत्र = द्रव्य-स्तवे
अनुमोदना-ऽऽदि
अ-विरुद्धम् ।

आदि-शब्दात्—

कारणोपदेशा-ऽऽदि-ग्रहः ॥ १०९ ॥

‡ युक्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :—

जं च चउद्धा भणिओ विणओ. उवयारिओ उ जो तत्थ,।
सो तित्थ-यरे णियमा ण होइ दव्व-त्थयाद ऽन्नो. ॥११०॥

पञ्चा० ६-३७ ॥

यः (यश्च)
चतुर्द्धा

भणितः
विनयः=ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लोको-
पचारिक-भेदात् ।

औपचारिकः=विनयः
तु
यः,
तत्र = विनय-मध्ये,
सः
तीर्थ-करे

नियमात् = अवश्यंतया
न
भवति
द्रव्य-स्तवात्—
अन्यः ।

किन्तु [अपि तु], द्रव्य-स्तव एव ॥ ११० ॥

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह हंदि वदणाए वि ।
पूअणमा-ऽऽदुच्चारणमुववन्नं होइ जइणो वि. ॥१११॥

पञ्चा० ६-३८ ॥

‡ एतस्य=लोकोपचार-विनयैक रूप द्रव्य-स्तवस्य
(तु)
सदादन-हेतोः = सपादना-ऽर्थम्
तथा–
"हृदि" = इत्युपदर्शना-ऽर्थम्
वन्दनायामऽपि=सूत्र-रूपायाम्
"पूअण-वत्तियाए" [इत्या-ऽऽदि]
उपपन्नम्
भवति
यतेरऽपि ॥ १११ ॥

इअरहा, अण-ऽत्थगं तं. ण य तय-ऽणुच्चारणेण सा भणिया. ।
ता अभि-संधारणओ संपाडणमिट्ठमेअस्स. ॥ ११२ ॥

पञ्चा० ६-३९॥

इतरथा = तु
अन ऽर्थकम्
न च
तद-ऽनुच्चारणेन---
‡ तत् = तस्मात्
अभि-सन्धारणेन – विशिष्टेच्छा-रूपेण
तद् = उच्चारणम् ।
सा = [वन्दना] विविता
भणिता=[यतेः] ।
संपादनम्—
इष्टम्
एतस्य=द्रव्य स्तवस्य ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ ११२ ॥

सक्खा उ कसिण-संजम-दव्वा-ऽ-भावेहि णो अय (जइणो) इट्ठु ।
गम्मइ तं त-ट्ठिइए-"भाव-प्पहाणा हि मुणउ." त्ति. ॥११३॥

पञ्चा० ६-४० ॥

‡ "साक्षात्तु=स्व-रूपेणैव	अयम्
कृत्स्न-संयम-द्रव्या-ऽ-भावाभ्याम्=	इष्टः--द्रव्य स्तवः" इति
कारणाभ्याम्	गम्यते
न	तन्त्र-स्थित्या=पूर्वा-ऽ-पर-निरूपणेन,:-

गर्भा-ऽर्थमाऽऽह, :—

"भाव-प्रधाना हि मुनयः" इति कृत्वा ।

"उपसर्जनमयम् " ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ ११३ ॥

एएहिं तो अण्णे धम्मा-ऽहिगारीहं जे उ, तेसिं तु. ।
सक्खं चिय विण्णेयो. भाव-ऽंगतया, जओ भणियं, :—॥११४॥
पञ्चा० ६-४१ ॥

‡ एतेभ्यः मुनिभ्यः	इह
अन्ये	ये = श्रावकाः
धर्मा-ऽधिकारिणः	तु,
तेषां तु	साक्षादेव _ स्व-रूपणैव
विज्ञे	भावा-ऽङ्गतया = हेतु-भूतया ।
यतः	भणितम्=[वक्ष्यमाणम्], :- ॥११४॥

'अ-कसिण-पवत्तगाणं विरया-ऽ-विरयाण एस खलु जुत्तो. ।
संसार-पयणु-करण दव्व-त्थए कूव-दिट्ठ-ऽन्तो." ॥११५॥
पञ्चा० ६-४२ ॥

अ-कृत्स्न-प्रवर्तकानाम्=संयममऽधिकृत्य	युक्तः=स्व-रूपेणैव
विरता-ऽ-विरतानाम् = प्राणिनाम्	संसार-प्रतनु-करणः=शुभा-ऽनुबन्धात्
एषः	द्रव्य-स्तवः ।
खलु	

द्रव्ये-स्तवे = तस्मिन्	कूप-दृष्टा-ऽन्त = प्रसिद्ध-कथानक-गम्य ॥ ११५ ॥

‡ आक्षिप्य समाधत्ते, :—

सो खलु पुप्फा-ऽऽइओ तत्थुत्तो, ण जिण-भवणमा-ऽऽई वि ।
आइ-सद्दा वुत्तो, तय-ऽ-भावे कस्स पुप्फा-ऽऽई ? ॥११६॥

पञ्चा० ६-४३ ॥

"स खलु = द्रव्य-स्तव पुष्पा-ऽऽदिकः	तत्रोक्तः = "पुप्फा ऽऽइ ण इच्छंति ।" इति प्रतिषेध प्रत्यासन्नः [प्रतिषेध प्रत्यासत्तेः]

न
जिन-भवना ऽऽदिरऽपि = अनाकारात्" ।

तत्राऽऽह, :— "आदि शब्दात्	उक्तः = जिन भवना ऽऽदिरऽपि ।
तद्-ऽ भावे = जिन-भवना-ऽऽद्य-ऽभावे	कस्य पुष्पा-ऽऽदि- ? ।

इति गाथाऽर्थः ॥ ११६ ॥

"णु तत्थेव य मुणिणो पुप्फा-ऽऽइ-णिवारणं फुडं अत्थि."।
अत्थि तय, सय करणं पहुच्च, नऽणुमोयणा-ऽऽइ वि " ॥११७॥

पञ्चा० ६-४४ ॥

‡ "ननु तत्रैव च=स्तवा ऽधिकारे मुने	पुष्पा-ऽऽदि निवारणम् स्फुटम् अस्ति—

"णो कसिण-संजम०"

इत्या ऽऽदि-वचनात् ।"

‡ एतदाऽऽशङ्कयाऽऽह, :—

अस्ति | तत् = सत्यम्,

किन्तु—

स्वयं करणं | प्रतीत्य=निवारणम् ,

न तु | अनुमोदना-ऽऽद्य-ऽपि=प्रतीत्यः

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ ११७ ॥

‡ एतदेव समर्थयति, :—

सुव्वइ अ वयर-रिसिणा कारवणं पि अ अणुट्ठि अमिमस्स.।
वायग-गंथेसु तहा एअ-गया देसणा चेव. ॥ ११८ ॥

पञ्चा० ६ ४५ ॥

श्रूयते च, :-
"वज्र-ऽर्षिणा=पूर्व-धरेण
कारवणमऽपि च=तत्त्वतः[करणमऽपि]
अनुष्ठितम्

एतस्य=द्रव्य-स्तवस्य,
" माहेसरी उ० "
पूरिअं०] इत्या-ऽऽदि-वचनात् ।"

तथा—
वाचक-ग्रन्थेषु=[तथा, धर्म-रत्न-माला-ऽऽदिषु च]
एतद्-गता=[जिन-भवना-ऽऽदि-द्रव्य-स्तव-गता]

देशनाऽपि
चैव=दृश्यते [श्रूयते]।
"यस्तृणमयीमऽपि० " इत्याऽऽदि-वचनात् ।
['' जिन-भवनम्०" इत्या-ऽऽदि।]॥११८

आहे[ह,:-"ए]वं"हिंसा वि हु धम्माय ण दोस-यारिणी"त्ति ठियं.।
एवं च-"वेय-विहिआ णेछिज्जइ सेह." वामाहो." ॥११९ ॥

‡ आह, :—
"एवम् = द्रव्य-स्तव-विधाने
"हिंसाऽपि=(खलु)
[धर्माय=[क्रियमाणी]

न
दोष-कारिणी ।"
इति स्थितम्=न्यायतः,

तामऽन्तरेण द्रव्य स्तवा ऽ-भावात् ।

एवं च = [स्थिते सति]
वेद-विहिता=[याग-विधाने]
सा = हिंसा

इह = विचारे
न
इष्यते, स

व्यामोहः—भवताम्, तुल्य-योग क्षेमत्वात् ।" ॥ ११९ ॥

"पीडा-गरी" त्ति. "अह सा". "तुल्लमिणं हंदि अहिगयाए वि."।
'ण य पीडाउ अ-धम्मो णियमा, विज्जेण वभिचारा." ॥१२०॥

"पीडा-कारिणी ।" इति
अथ

सा = वेद विहिता-हिंसा ।"

एतदाऽऽशङ्क्य, आह, —

"तुल्यम्
इदम्
हंदि

अधि-कृतायामऽपि = जिन भवना-
ऽऽदि हिंसायामऽपि ।"

उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, —

"न च
पीडातः
वैद्येन =

अ धर्मः
नियमात् = एका ऽन्तेनैव,
व्यभिचारात्,

हित-कृतस्तस्यौपघात्
पीडोत्पत्तावऽप्यऽ धर्माऽनुपपत्तेः ।" ॥ १२० ॥

"अह, तेसिं परिणामे सुहं तु." "तेसिं पि सुव्वइ एअं. ।
तक्खणणे वि ण धम्मो भणिओ पर-दारगा-ऽऽईणं." ॥१२१॥

‡ "अथ
तेषाम्=जिन-भवना ऽऽदौ हिंस्य-
मानानाम्

परिणामे
सुखमेव,
इत्य-ऽदोष ।"

एतदाऽऽशङ्क्याऽऽह, :—

तेषामऽपि=यागे हिंस्यमानानाम् | श्रूयते
एतद्=[सुखम्] स्वर्ग-पाठात् ।"

उपपत्त्य-ऽन्तरमाऽऽह, :—

' तज्-जननेऽपि=सुख-जननेऽपि | भणितः
न | पारदारिका-ऽऽदीनाम् ।
धर्मः

"तस्मात्, एतदऽपि व्यभिचारि ।" इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १२१ ॥

"सिय." "तत्थ सुहो भावो तं कुणमाणस्स" "तुल्लमेअं पि."।
इयरस्स वि सुहो च्चिय णेयो इयरं कुणंतस्स." ॥१२२॥

"स्याद् ।"

"तत्र=जिन-भवना-ऽऽदौ | ताम्=हिंसाम्
शुभोभावः | कुर्वतः, इति ।"

एतदाऽऽशङ्क्य आह, :—

"तुल्लम् | एतदऽपि ।"

"कथम् ?" इति आह, :—

"इतरस्याऽपि=वेद-विहित-हिंसा-कर्तुः | ज्ञेयः = भावः
शुभः | इतराम् = वेद-विहितां हिंसाम्
एव | कुर्वतः = याग-विधानेन" ॥१२२॥

"एगिंदिया-ऽऽई अह ते." "इयरे थोव. "त्ति." ता किमेएणं?।"
"धम्म-ऽत्थं सव्वं च्चिय वयणा एसा न दुट्ठ". "त्ति."॥१२३॥

"एकेन्द्रिया-ऽऽदयः | ते=जिन-भवना-ऽऽदौ (ये) हिंस्यंते ।"
अथ

एतदा-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

"इतरे
स्तोकाः=वेदाद् यागे हिस्यन्ते"।

"तत्
किम्
"धर्मा-ऽर्थम् =
सर्वम्
एषा = हिंसा
न
एतेन = तवाऽभिनिवेशेन ?
[भेदा-ऽभिनिवेशेन ?]"
एव = सामान्येन
वचनात्,
दुष्टा।"
ति। इति गाथा-ऽर्थ ॥१२३॥

एवम्—
पूर्व-पक्षे प्रवृत्ते सति,
† आह, :—

"एयंपि ण जुत्ति-खमं, ण वयण-मित्ता उ होइ एवमिअं.।
संसार-मोयगाण वि धम्मा-ऽ-दोस-प्पसगाओ" ॥१२४॥

एतदऽपि
न
युक्ति-क्षमम् = यदुक्त परेण,
"कुतः ?" इति, आह, :—
न
वचन मात्रात् = अनुपपत्तिकात्
भवति
एवम
एतत् = सर्वम् [मेव]"
"कुतः ?" इति, आह, :—
ससार-मोचकानामऽपि = वचना-
द्धिसा कारिणाम (अपि)
धर्मस्य = "दु खिनो हन्तव्याः।"
इत्यस्य—
अ-दोष-प्रसङ्गात् = अ दुष्टत्वा-ऽऽ
पत्ते।" इत्य ऽर्थः।
[धर्मा ऽ दोष प्रसगात्, धर्म प्रसङ्गात्, अ दोष-प्रसङ्गाच्च।] ॥ १२४ ॥

"सिय, 'तं ण सम्म-वयणं" इयरं सम्म-वयणं." ति किं माण ?"
"अह लोग च्चिय." णेवं [न] तहा (ऽ-) पाठा, विगाणा य" ॥१२५

‡ "स्यात्,

"तत् = संसार मोचक-वचनम् | न सम्यक् = वचनम्।"

इत्याऽऽशङ्क्य, आह, :—

"इतरद् = वैदिकम् सम्यग् वचनम्" | इति किं मानम् ?"

"अथ, | लोक एव = मानम्।"

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

"न | एतत् तथा,

[न, तहाऽ-पाठा] = लोकस्य प्रमाण तयाऽ-पाठात्;

अन्यथा, प्रमाणस्य षट्-संख्या-विरोधात्।

तथा,

अ-विगानाच्च = न हि "वेद-वचनं प्रमाणम्।" इत्येकवाक्यता लोकानाम्, इति (?) ॥ १२५ ॥

"अह पाढोऽभिमओ च्चिय, विगाणमऽपि एत्थ थोवगाणं उ."।
"एत्थं पि ण प्पमाणं, सव्वेसिं अ-दंसणाओ उ." ॥१२६॥

अथ पाठः अभिमतः | एव = लोकस्य प्रमाण-मध्ये, षण्णामुपलक्षणत्वात्

"विगानमऽपि = अत्र = वेदे-वचना-ऽ-प्रामाण्ये | स्तोकानामेव = लोकानाम्।"

एतदाऽऽशङ्क्य, आह, :—

अत्राऽपि=कल्पनायाम् [एवं कल्पनयाम्] न प्रमाणम् | सर्वेषाम् = लोकानाम्, अ-दर्शनादेव="अल्पत्व-बहुत्वे निश्चया-ऽ-भावात्" इत्य-ऽर्थः ॥ १२६ ॥

किं तेसिं दंसणेणं अप्प-बहुत्तं जहित्थ, तह चेव ।
सव्वत्थ समवसेयं णेवं वभिचार-भावाओ. ॥१२७॥

‡ "किम्
तेषाम्
अल्प बहुत्वम्
यथा
इह = मध्य-देशा ऽऽदौ वेद-वचन-प्रमाण प्रति,

सर्वेषाम् = लोकानाम्
दर्शनेन ?
तथैव
सर्वत्र=क्षेत्रा-ऽन्तरेष्वपि
समवसेयम् = लोकरवा-ऽऽदि-हेतुभ्यः, इति ।"

‡ अत्राऽऽह, --
"नैवम् ,
व्यभिचार-भावात्=कारणात् ॥१२७
एतदेवाऽऽह, --

अग्गा-ऽऽहारे बहुगा दिसंति दिआ, तहा ण सुद्द त्ति।
ण य तद्दंसणओ च्चिय सव्वत्थ इमं हवइ एवं ॥१२८॥

अग्रा-ऽऽहारे
बहव
दृश्यन्ते
ब्राह्मणाः,

तथा
न
शूद्रा
इति=ब्राह्मणवद् बहवो दृश्यन्ते,

न च
तद् दर्शनादेव = अग्रा-ऽऽहारे बहु द्वि ज-दर्शनादेव
सर्वत्र = भिल्ल पल्ल्या ऽऽदावऽपि

एतद्
भवति
एव = द्वि-ज-बहुत्वम् , इति ।
॥गाथा ऽर्थ. ॥१२८॥

‡ उपपत्त्य-ऽन्तरमाह, --

'ण य "बहुगाणऽपि इत्थं अ-विगाणं सोहणं."ति नियमोऽयं."।
"ण य "णो थोवाणं पि हु," "मूढेयर-भाव-जोएणं". ॥१२९॥

"न च
'बहूनामऽपि
अत्र = लोके
"न च
"न स्तोकानामऽपि = न शोभनमेव ",
"मूढानां बहूनामऽपि न शोभनम्,
अ-मूढस्य स्तोकस्यैव," इति-भावः
[बहूनामऽपि मूढ-व्यापार भावात्, स्तोकानामऽपि चाऽ-भावात् ।] ॥१२९॥

अ-विगानम् = एक-वाक्यता रूपम्,
शोभनम् ।"
इति नियमोऽप्यस्तु ।"
(इति नियमः), ["कुतः ?" इति, आह-]
मूढेतर-भाव-योगेन ।"

"ण य 'रागा-ऽऽइ-विरहिओ कोऽवि माया विसेस-कारि" त्ति"।
"जं सव्वे वि अ पुरिसा रागा-ऽऽइ-जुआ उ." पर-पक्खे.॥१३०॥

‡ "न च
'रागा-ऽऽदि-विरहित' सर्वज्ञः
कश्चित्
मता=प्रमाता
["कुतः ?" इति, आह, :—]
"यत्,
सर्वेऽपि
पर-पक्षे = मीमांसकस्य
सर्वज्ञा-ऽनऽभ्युपगमत्वात् ॥ १३० ।'

विशेष-कारी=विशेष-ज्ञात् ।"
इति =
[य एवं वेद, :—"वेदिकमेव प्रमा-
णम्, नेतरद् । इति]"
पुरुषाः
रागा-ऽऽदि-युता एव ।"

‡ दोषा-ऽन्तरमाह, :—

"एवं च वयण-मित्ता धम्मा-ऽ-दोसाइ मिच्छ-गाणं पि ।
घायंताणं दि-अ-वरं पुरओ णणु चंडिआ-ऽऽईणं. ॥१३१॥

एवं च = प्रमाण-विशेषा-ऽ-परिज्ञाने
सति,
वचन-मात्रात्=सकाशात्

धर्मा-ऽ-दोषौ [ते]=प्राप्नुतः
म्लेच्छा-ऽऽदीनामऽपि=भिल्ला-
ऽऽदीनामऽपि ।

["क्व ?" इति आह, —

घातयताम्
द्वि-ज वरम्=ब्राह्मण पुरतम्
पुरत.

ननु
चण्डिका-ऽऽदीनाम्=देवता विशेषा णाम् ॥ १३१॥

["एवं च-चण्डिका-ऽऽदीना देवता विशेषाणा पुरतः द्वि-ज वरं घातयता म्लेच्छका-ऽऽदीनामऽपि ननु वचन-मात्रात् धर्मा ऽ दोषो भवेताम्" इत्यन्वयः । म०)

"न य तेसिं पि ण वयणं एत्थ निमित्तं" ति, जं ण सव्वे उ.।
तं तह घायंति सया, अ-स्सुअ-तच्चोयणा-वक्का". ॥१३२॥

‡ "न च
तेषामऽपि=म्लेच्छानाम्
न वचनम्

अत्र = द्वि ज घाते
निमित्तम्"
इति । किन्तु वचनमेव ।"

"कुत ?" इति, आह, :—

"यत,
न
सर्वं एव=म्लेच्छा
तत् = द्वि-ज वरम्
तथा

घातयन्ति
(सदा) [तदा] (,)
अ श्रुत-तच्-चोदना-वाक्याः=[द्वि ज घात चोदना वाक्यात्] अ श्रुत तच् चोदना वाक्य द्वि ज-घाति-विधि वाक्य यं, ते, तथा" ॥१३२॥

"अह "तं ण एत्थ रूढं" "एअ पि ण तत्थ." तुल्लमेवेयं." ।
"अह "तं थोवमणु च्चियं" "इमं पि एयारिस तेसिं." ॥१२३॥

‡ "अथ,
"तद् = म्लेच्छ प्रवर्तक वचनम्

न
अत्र = लोके
रूढम् ? ।"

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

"एतदऽपि = वैदिकम् (यऽपि) न	तत्र = भिल्ल-मते [म्लेच्छ-लोके] रूढम् ।" इति ।
"तुल्यमेव	इदम् = अन्यतरा-ऽ-रूढत्वात् ।"

अथ,

"तत् = म्लेच्छ-प्रवर्तकं वचनम्	स्तोकम्, अनुचितम् = अ-संस्कृतम् ।"

इत्या-ऽऽशङ्क्य, आह, :—

"इदम् = वैदिक-चोदना-वाक्यम् अपि	एता-दृशम् = [ईदृशमेव-स्तोका-ऽऽदि-धर्मकम्,] तेषाम् = [म्लेच्छानाम्, आशय-भेदात् ।] ॥ १३३ ॥

[१३४-१३५-गाथयोः सम्यग् नाऽवबुध्यते ऽवचूरिका । यथैव मुद्रिते, तथैव कलकत्ता-तपागच्छीय-पुस्तका-ऽऽलय-स्थ-हस्त-लिखित-पुस्तके पाठः प्रायः । न गाथयोरवचूरिः, किन्तु द्वयोरवतरणिका-रूपेण पूर्वमेव कथञ्चित् पाठः । तथापि छायां कृत्वा, अर्थ संगति-करणे प्रयासः कृत उपरिष्टात् । पञ्च-वस्तु-महा-ग्रन्थे, स्तव-परिज्ञा-ग्रन्थस्थ तयोर्गाथयोर्मूले ऽवचूरिके चात्रैव कोष्टका-ऽन्तरे प्रदर्शिते, अन-ऽन्य-गतिकत्वात् । संपादकः]

["अह तं वेय-ऽगं खलु" "न तं पि एमेव" "इत्थ वि ण माणं।"
"अह-तथा-ऽ-सवणमिणं" सिएअमुच्छिन्न-साहं तु."॥१३४॥

‡ अथ तत् (ण)	वेदा-ऽङ्गम् खलु = द्वि-ज-प्रवर्तकम् ।"

इत्या-ऽऽशङ्क्या आह, :—

‡ "न तदऽपि—म्लेच्छ-प्रवर्तकम्	एवमेव = वेदे ।" इति

‡ "अत्राऽपि | मानम् ।"
न |
: "अथ | अ श्रवणम्—
तत्र = वेदे | इदम् = मानम् ।
न हि तद् वेदे श्रूयते"

इत्या ऽऽशङ्क्य, आह, —
स्याद् | उत्सन्न शास्त्र तु = उत्सन्न शास्त्रमेतदपि
एतद्, | संभाव्यते ।"

इति गाथा-ऽर्थं ॥ १३४ ॥

"ण य तव्वयणाओ च्चिय तदुभय-भावो ति, तुल्ल-भणिईओ."॥
अण्णा वि कप्पणेवं साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५॥

"न च | तदुभय भावः = धर्मा ऽ दोष-भाव ,
तद्-वचनात् = वेद-वचनादेव | इति ।
"कुतः ?" इत्याऽऽह, :—
तुल्य भणितेः = म्लेच्छ-वचनादेव ।"
"एतदुभयम् = इत्यऽपि वक्तुं शक्यत्वात्," इत्य ऽर्थ ।

अन्याऽपि | भिल्ल-परिग्रहीतत्वा ऽऽदि प्रकारेण,
कल्पना = ब्राह्मण परिग्रहीतत्वा- | साधर्म्य वैधर्म्यत = कारणात्
ऽऽदि रूपा, | दुष्टा ।
एवम् = उपायत्—

इति गाथाऽर्थः ॥ १३५ ॥]

"म्लेच्छ-प्रवर्तकमेव यदेऽ स्त, न हि ज प्रवर्तकम्, श्रवण मात्रत्वाऽ-तयस्त्वात् । अ श्रवणस्योच्छिन्न शास्त्रत्वेनोपपत्तेः" इति तैरपि वक्तु शक्य-त्वात् इति । (१३४)

अन्याऽपि कल्पना = ब्राह्मण परिगृहीतत्वादि रूपा भिल्ल-परिगृहीतत्वा ऽऽदि, तुल्यत्वेन दुष्टा, (१३५) इत्याऽऽह, —

"अह तं ण वेइअं खलु." "न तं पि एअेव, इत्थ वि ण माणं, ।"
'अह तत्थाऽ-स्सवणमिदं हविज्ज, उच्छिण्ण-साहत्ता. ॥ १३४ ॥
ण य तव्विवज्जणाओ उचिय-भावोऽत्थ, तुल्ल-भणिईओ. ।
अण्णा वि कप्पणाइ साहम्म-विहम्मओ तुच्छा. ॥ १३५ ॥
("अथ-तद्-न वैदिकं खलु" "न तदऽपि एवमेव, अत्राऽपि न मानम्", ।
"अथ-तत्रा ऽ-श्रवणमिदं भवेत्, उच्छिन्न शाखत्वात् ॥ १३४ ॥
न च तद्-विवर्जनात् उचित-भावोऽत्र, तुल्य भणितितः. ।
अन्याऽपि कल्पना साधर्म्य-वैधर्म्य तोतुच्छा. ॥ १३५ ॥) (?)

‡ यस्मादेवम्,

"तम्हा ण वयणमित्तं सव्वत्थऽ-विसेसओ बुह-जणेणं ।
एत्थ पवित्ति-णिमित्तं, एअं दट्ठव्वयं होइ." ॥ १३६ ॥

तस्मात्
न
वचन-मात्रम् = उपपत्ति-शून्यम्
सर्वत्र
अ-विशेषतः=कारणात्
बुध-जनेन = [विद्वज्जनेन]

अत्र=लोके
प्रवृत्ति निमित्तम् = [हिंसा-ऽऽदौ]
[एअं=एतद्]
द्रष्टव्यम्
भवति ।
["न" इति वर्तते (?)] ॥ १३६ ॥

"किं पुण विसिट्ठगं चिय, जं दिट्ठिट्ठाहिँ णो खलु विरुद्धं, ।
तह संभवं [त-रूवं] स-रूवं विआणिऊं सुद्ध-बुद्धिए ! ॥ १३७ ॥

‡ किं पुनर्

विशिष्टमेव=वचनं प्रवृत्ति-निमित्त-
मिह द्रष्टव्यम् ।

'किं भूतम् ?" इत्याऽऽह, :—
यद्
दृष्टेष्टाभ्याम्
न खलु

विरुद्धम् = "तृतीय-स्थान-संक्रान्तम्"
इत्य-ऽर्थः ।

तथा,
संभवत्-स्व-रूपम् = यद् "न पुन ,– अत्य ऽन्ता ऽ सम्भवि" इति
विचार्य
शुद्ध-बुद्ध्या = मध्य स्थया।
इति गाथा-ऽर्थः ।।१३७।।

जह, इह, दव्व-थयाओ भावा-ऽऽत्थय-रूप्प-गुण-जुआउ [सेओ]।
जयणाए पिडुवगारो जिण-भवण-कारणाऽऽई उ [द्''त्ति] न विरुद्धं
॥ १२८ ॥

"यथा,
द्रव्य-स्तवात्
भावा ऽऽपत्स्तव-गुण युक्तात्
नाऽन्यथा स्यात्,
यतनया = यत्नेन
पीडोपकार = पीडया उपकार,
बहु गुण भावात्
"इति
इह = प्रवचने,
"किं भूतात् ?" इत्याऽऽह,
श्रेयस [ज्यायत्]
जिन भवन कारणा-ऽऽदे द्रव्य स्तवात् ।"
न
विरुद्ध – एतत्'।
इति गाथा-ऽर्थः ॥ १२८ ॥

‡ एतदेव स्पष्टयति, .—

सइ सव्वत्था-ऽ-भावे जिणाणं, भावा-ऽऽवयाए जीवाणं,।
तेसिं तित्थरण-गुणं णियमेण इह तदा-ऽऽययणं. ॥१२९॥

‡ सदा
सर्वत्र – [illegible]
भावा-ऽऽपदि = [illegible]
तेषाम् - [जीवानाम्]
निस्तर-गुणम् =
नियमेन = [illegible]
अभावे
जिनानाम् ,
जीवानाम
इह = लोके
तदा ऽऽयतनम् – जिना-ऽऽयतनम् ।
इति गाथा-ऽर्थः ॥ १२९ ॥

तब्बिंबस्स पइट्ठा, साहु-णिवासो अ, देसणा-ऽऽइ अ, ।
इक्कक्कं आवा-ऽऽवय-नित्थरण-गुणं तु भव्वाणं. ॥१४०॥

‡ तब्बिंबस्स = जिन-बिम्बस्य | पइ-ट्ठा = प्रतिष्ठा,
‡ तत्र, तथा-विध—
साहु निवासश्च = विशागतः ।
‡ देशना-ऽऽदयश्च | [आदि-शब्दात्=ध्याना-ऽऽदि-परिग्रहः]
‡ एकैकम् = तद्-बिम्ब-प्रतिष्ठा-ऽऽदि | एव
अत्र— | भव्यानाम् = प्राणिनाम् ।१४०॥
आवा-ऽऽपद्-निस्तरण-गुणम्

पीडा-गरी वि एवं एत्थ पुढवा-ऽऽइ-हिंस-जुत्ताओ· ।
अण्णेसिं गुण-साहण-जोगाओ दीसइ इहं तु [हेव] ॥१४१॥

‡ पीडा-कारिण्यऽपि | पृथ्व्या-ऽऽदि हिंसा
एवम् | युक्ता
अत्र = जिन-भवने | एव,
अन्येषाम् = प्राणिनाम् | गुण-साधन-योगात् ।
दृश्यते | इह
एतच्च = गुण-साधनम् | एव,– । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१४१॥

आरंभवओ य इमा आरंभ-ऽंतर-निवित्तिका पायं. ।
एवं वि हु अ-णियाणा इट्ठा, एसा वि मुक्ख-फला. ॥१४२॥

‡ आरम्भवतश्च | आरम्भा-ऽन्तर-निवृत्ति-दा
इमा=विहिता (हिंसा) | प्रायः=विधिना कारणात् ।
एवमऽपि च | परस्य–
अ-निदाना=विहिता, | इष्टा=च ।

एषाऽपि=पीडा | मोक्ष-फला="न अभ्युदयायैव।"

इति गाथा-ऽर्थः ॥ १४२ ॥

ता एयम्मि [एईए] अ-हम्मो णो, इह जुत्तं पि विज्ज-णायमिणं।
हंदि गुणहं ऽतर-भावा. इहरा, विज्जस्स वि अ-धम्मो.॥१४३॥

‡ तत्=तस्मात्,
अस्याम्=पीडायाम्
इह
युक्तमऽपि
हंदि
‡ इतरथा=अ-विधिना,
गुणा-ऽन्तरा ऽ-भावे,

अ-धर्मः
न="गुण-भावेन" इति (-हेतोः)।
वैद्य ज्ञातम्
इदम्=प्रागुक्तम्।
गुणा-ऽन्तर भावात्=दर्शित चैतद्।
वैद्यस्याऽपि
अ धर्म =एव, पीडायां स्यात्, इति ॥ १४३॥

ण य वेय-गया चेवं सम्मं, आवय गुण-ऽन्निया एसा,।
ण य दिट्ठ-गुणा, तज्जुय-तय-ऽतर-णिव्वित्ति-आ नेव.॥१४४॥

‡ न च
वेद-गता[ऽपि]
‡ आपद्-गुणा ऽन्विता

एवम्=जिन-भवना ऽऽदि हिंतावत्
सम्यग्,
एषा=हिंसा,

तामऽन्तरेणाऽपि जीवाना माया-ऽऽपदोऽ भावात्।

‡ न च | दृष्ट गुणा=साधु निवासा ऽऽदिवत्,

तया ऽनुपलब्धे।

‡ तद्-युक्त-तद-ऽन्तर-निवृत्ति दा=
हिंसा युक्त क्रिया ऽन्तर-निवृत्ति-दा

नैव=न हि।

"प्राक् तद्-यध प्रवृत्ता याज्ञिका" ॥ १४४ ॥

"ण य फलुद्देस-पवित्तिओ इयं मोक्ख-साहगा वि' त्ति ।
मोक्ख-फलं च सु-वयणं, सेसं अत्था-ऽऽइ-वयणं समं.॥१४५॥

‡ "न च फलोद्देश-प्रवृत्तितः इयम् = हिंसा मोक्ष साधिका अपि" इति ।

"श्वेतं वायव्यमऽजमाऽऽलभेत् भूति कामः ।"
इत्या-ऽऽदि-श्रुतेः ।

‡ मोक्ष-फलं च सु वचनम् = "स्वा-ऽऽगमे" इत्य-ऽर्थः।

‡ शेषम् = अर्था-ऽऽदि-वचन-समम् = "फल-भावेऽपि अर्थ-शास्त्रा-ऽऽदि-तुल्यम् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १४५ ॥

इहैवाऽऽगम-विरोधमाऽऽह, :—

"अग्गी मा एआओ एणाओ मुंचउ." त्ति य सुई वि. ।
तप्पाव-फला 'अंधे तमसि" इच्चा-ऽऽइ य सई वि. ॥१४६॥

‡ "अग्निः माम् एतस्मात् = हिंसा कृताद् एनसः = पापात् मुञ्चतु = छान्दसत्वात्, मोचयतु." इति श्रुतिरऽपि = विद्यते, "वेद-वाग्" इत्य-ऽर्थः ।

‡ तत्-पाप-फलात् = तदुक्त-हिंसा-फलात्, "अन्धे तमसि०" इत्या-ऽऽदिश्च स्मृतिरऽपि = विद्यते ।

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥"

इति-वचनात् । इति-गाथा-ऽर्थ ॥१४६॥

अत्थि जओ, ण य "एसा अण्ण-ऽत्था" [तीरइ] सक्कए इहं भणिउ.।
अ-विणिच्छया. ण येवं इह सुव्वए पाव-वयणं तु. ॥१४७॥

"अस्ति	यत =श्रुति स्मृतिश्च ।"
न च	शक्यते
"एषा=[श्रुति स्मृतिश्च]	इह
अन्या ऽर्था = अ-विधि-दोष-निष्पङ्ग-पापा ऽर्था ।"	वक्तुम् ।

"कुत ?" इत्याऽऽह, —
अ-विनिश्चयात् = "प्रमाणा ऽ-भावात्" इत्य ऽर्थ ।

‡ न च	श्रूयते
एवम्	पाप वचनम्=प्रवचने
इह=जिन-भवना ऽऽद्यौ	(तु) ॥ इति गाथा-ऽर्थः ॥१४७॥

परिणामे य [म-सु] सुहं णो तेसिं इच्छिज्जइ, ण य सुहं पि. ।
मदा-ऽ-पत्थ-कय-समं. ता तमुवण्णास-मित्तं तु. ॥१४८॥

‡ परिणामे च	तेषाम्= जिन भवना ऽऽद्यौ हिंस्य-मानानाम्
सुखम्	
न	इष्यते=नशिमित्त जैनैः ।
‡ न च	मन्दा-ऽ-पथ्य कृत-समम् = विपाक-दारुणमिष्यते ।
सुखम्	
‡ यस्मादेवम्,	
तस्मात्,	तदुपन्यास मात्रमेव

[यदुक्तम्—
"अह तेसिं परिणाम० [१२१]" इत्या-ऽऽदिना] ॥ १४८ ॥

इय दिट्ठेट्ठ-विरुद्धं जं वयणं, एरिसा पवत्तस्स, ।
मिच्छा-ऽऽइ-भाव-तुल्लो सुह-भावो होंदि विण्णेयो. ॥१४९॥

‡ "इय" एवम्	यद्
दृष्टेष्ट-विरुद्धम्	वचनम्,

ईदृशात्	म्लेच्छा-ऽऽदि-भाव-तुल्यः
प्रवृत्तस्य=सतः	शुभ-भावः
	हंदि विज्ञेयः = मोहात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १४९ ॥

‡ "एगिंदिया-ऽऽइ अह ते० [१२३]" इत्या-ऽऽदि यदुक्तम्, तत्परिहारा-ऽर्थमाऽऽह, :—

"एगिंदिया-ऽऽइ-भेयोऽवित्थ णणु पाव-भेय-हेउ"त्ति ।
इट्ठो तएऽवि स-मए तह सुद्द-दि-आ-ऽऽइ-भेएणं. ॥१५०॥

‡ "एकेन्द्रिया-ऽऽदि-भेदोऽपि	ननु
अत्र=व्यति करे	पाप-भेद-हेतुः"
इति	स्व-मते
इष्टः	तथा=तेन प्रकारेण
तवाऽपि	शूद्र-द्वि-जा-ऽऽदि-भेदेन ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५० ॥

‡ एतदेवाऽऽह, :—

"सुद्दाण सहस्सेणऽवि ण बंभ-हच्चेह घाइएणं" ति. ।
जह, तह अप्प-बहुत्तं, एत्थ वि गुण-दोस-चिंताए. ॥१५१॥

शूद्राणाम्	इह
सहस्रेणाऽपि	घातितेन"
न	इति
ब्रह्म-हत्या	यथा=भवताम्,
तथा	अत्राऽपि—
अल्प-बहुत्वम्	गुण-दोष-चिन्तायाम्=ज्ञेयम्

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५१ ॥

अप्पा य होइ एसा एत्थं जयणाए वट्टमाणस्स. ।
जयणा उ धम्म-सारो विण्णेया सव्व-कज्जेसु. ॥ १५२ ॥

‡ अल्पा च	अत्र
भवति	यतनया
एषा=हिंसा	वर्तमानस्य=जिन-भवना ऽऽदौ ।
यतना च	विज्ञेया
धर्म सारः [हृदयम्]	सर्व-कार्येषु = ग्लाना ऽऽदिषु ।

"यतना भाव शुद्धिरूपा
हेत्व-ऽनुबन्ध-हिंसा-ऽ भावे
स्व-रूपत पर्यवसानमेवाऽल्पत्वम् ।
न चाऽल्पोऽपि ततो बन्धः ।

"इह्य एसा वि मोक्ख-फला ।" [१४२] इति
प्रागेवोक्तत्वात् ।
"अणुमित्तोऽपि ण कस्सऽइ बन्धो
वर वत्थु-पच्चया भणिओ." त्ति सैद्धान्तिकाः ॥ १५२ ॥

जयणेह धम्म-जणणी. जयणा धम्मस्स पालणी चेव. ।
तव्वुड्ढि-करी जयणा. एग-ऽंत-सुहा-ऽऽवहा जयणा.॥१५३

पञ्चा० ९-३०

यतना	धर्म जननी = ततः प्रसूते ।
इह	
यतना	धर्मस्य पालना चैव=प्रसूत-रक्षणात् ।
तद्-वृद्धि कारिणी	यतना = इत्थ तद्-वृद्धेः ।
एका-ऽन्त-सुखा ऽऽवहा	यतना = सर्वतोभद्रत्वात् ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ १५३ ॥

जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्त-णाण-चरणाणं ।
सद्धा-बोहा-ऽऽसेवण-भावेणाऽऽराहगो भणिओ. ॥१५४॥

पञ्चा० ॥ ७-३१ ॥

यतनया वर्तमानो जीवः
परमा-ऽर्थेन—
सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानाम्=
त्रयाणामऽपि

श्रद्धा बोधा-ऽऽसेवन-भावेन=हेतुना
आराधकः
भणितः=तथा-प्रवृत्तेः ।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५४ ॥

एसा य होइ णियमा तय-ऽहिग-दोस-विणिवारणी जेण, ।
तेण णिवित्ति-पहाणा विण्णेया बुद्धिमंत्तेणं. ॥ १५५ ॥

पञ्चा० ७-३२ ॥

एषा च भवति नियमात्=यतना
तद-ऽधिक-दोष-निवारिणी
येन=अनुबन्धेन,

तेन
निवृत्ति-प्रधाना= तत्त्वतः

विज्ञेया
बुद्धिमता=सत्त्वेन ॥ १५५ ॥

सा इह परिणय-जल-दल-विसुद्ध-रूवा उ होई विण्णेया. ।
अत्थ-व्वओ महंतो, सव्वो सो धम्म-हेउ" त्ति. ॥१५६॥

पञ्चा० ७-३३ ॥

सा=यतना
इह=जिन-भवना-ऽऽदौ
परिणत-जल-दल-विशुद्धि-रूपा

एव
भवति
विज्ञेया=प्रासुक-ग्रहणेन ।

अर्थ-व्ययः
यद्यऽपि—
महान्=भवति तत्र,

तथाऽपि—
सर्वोऽसौ
धर्म-हेतुः=स्थान-नियोगात् ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५६ ॥

‡ प्रसङ्गमाऽऽह, :—

एत्तो च्चिय णिद्दोसं सिप्पा-ऽऽइ-विहाणमो जिणिंदस्स ।
लेसेण स-दोसं पि हु बहु-दोस-णिवारणत्तेणं. ॥ १५७ ॥
वर-बोहि-लाभओ सो सव्वुत्तम-पुण्ण-संजुओ भयवं, ।
एग-ऽंत-पर-हिअ-रओ, विसुद्ध-जोगो, महा-सत्तो, ॥१५८॥
जं बहु-गुणं पयाणं, तं णाऊणं, तहेव देसेइ, ।
तं रक्खंतस्स तओ जओचिअं कह भवे दोसो ? ॥१५९॥
तत्थ पहाणो अंसो बहु-दोस-निवारणेह जग-गुरुणो. ।
नागा-ऽऽइ-रक्खणे जह कड्ढण-दोसे वि सुह-जोगो. ॥१६०॥
एवं णिवित्ति-पहाणा विण्णेया तत्तओ अहिंसेयं. ।
जयणावओ उ विहिणा पूआ-ऽऽइ-गया वि एमेव. ॥१६१॥

पञ्चा० ७-३५-३६ ३७ ३८-४२ ॥

आसा व्याख्या , :—

अत एव=यतना-गुणात्	जिनेन्द्रस्य = आद्यस्य
निर्दोषम्	लेशेन
शिल्पा-ऽऽदि-विधानम् = [अपि]	स दोषमऽपि = सत्,

बहु दोष निवारणत्वेन = अनुबन्धत. । इति-गाथा-ऽर्थः १५७ ॥

एतदेवाऽऽह, :—

वर बोधि-लाभतः = सकाशात्	सर्वोत्तम-पुण्य-सयुक्तः, =
सः [असौ] = जिनेन्द्र	भगवान्,

एका-ऽन्त-पर-हित-रतः = तत् स्व-भावत्वात्,

विशुद्ध जोगः,

महा-सत्त्व ,=इति गाथा ऽर्थ ॥ १५८ ॥

यद् बहु-गुणम्	प्रजानाम्= प्राणिनाम् ।
तद्	ज्ञात्वा,
तथैव	देशयते = भगवाँस्तावत्,
[तान् रक्षतः]	ततः यथोचितम्=अनुबन्धतः,
कथं भवेत्	दोषः=?, नैव ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १५९ ॥

एतदेव स्पष्टयति, :—

तत्र=शिल्पा-ऽऽदि-विधाने प्रधानः अंशः	बहु-दोष-निवारणा इह= [जगति] जगद्-गुरोः ।
नागा-ऽऽदि-रक्षणे यथा= जीवित-रक्षणेन	आ-कर्षण-दोषेऽपि=कण्टका-ऽऽदेः शुभ-योगः=भवति ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६० ॥

‡ एवम्— निवृत्ति-प्रधाना =अनुबन्धमऽधिकृत्य विज्ञेया	तत्त्वतः अ हिंसा इयम् =जिन-भवना-ऽऽदि-हिंसा ।
यतनावतस्तु विधिना=क्रियमाणा	पूजा-ऽऽदि गताऽपि एवमेव=तत्त्वतोऽ-हिंसा ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६१ ॥

प्रसङ्गमाऽऽह, :—

सिय, "पूआओवगारो ण होइ कोऽवि पूअणिज्जाणं, ।
कय-किच्चत्तणओ तह जायइ आसायणा चेवं. ॥१६२॥

स्यात् ।

‡ "पूजया | कश्चिद्
उपकारः=तुष्टया-ऽऽदि रूप | इह
न भवति | पूज्यानाम्=तीर्थ-कृताम्,
कृत कृत्यत्वात्=इति युक्ति ।
तथा, | आशातना च
जायते | एवम्=अ-कृत-कृत्यत्वा-ऽऽपादनेन ।

इति गाथा-ऽर्थः ॥ १६२ ॥

तअ-ऽहिग-णिवत्तिए गुण-ऽंतरं णऽत्थि एत्थ णियमेणं ।
इय एअ-गया हिंसा स-दोसमो होइ णायव्वा." ॥ १६३ ॥

तद्, | अस्ति
अधिक [धिकृत] निवृत्या=हेतु-भूतया | अत्र
गुणा ऽन्तरम् | नियमेन = पूजा-ऽऽदौ ।
न
इय (इति) | स दोषैव
एतद् गता=पूजा ऽऽदि गता | भवति
हिंसा | ज्ञातव्या = कस्यचिदऽनुपकारात् "

इति-गाथा ऽर्थ. ॥ १६३ ॥

‡ अत्रोत्तरम्, :—

"उवगारा-ऽ-भावे वि हु चिंता-मणि-जलण-चंदणा-ऽऽईणं ।
विहि-सेवगस्स जायइ तेहिंतो सो पसिद्धमिणम्". ॥ १६४ ॥

‡ उपकारा-ऽ-भावेऽपि=[विषया-ऽऽदे] | जायते
चिन्ता मणि ज्वलन चन्दना ऽऽ | तेभ्य =एव
दिभ्यः=सकाशात् | स.=उपकारः,
विधि-सेवकस्य=-पुं स'

प्रसिद्धमेतद् = लोके," इति ॥१६४॥

इय कय-किच्चेहिंतो तब्भावे णऽत्थि कोइ वि विरोहो.।
एत्तोच्चिय ते पुज्जा. का खलु आसायणा तीए ?॥१६५॥

एवम्	नाऽस्ति
कृत-कृत्येभ्यः = पूज्येभ्यः सकाशात्	कश्चिदऽपि
तद्-भावे = उपकार-भावे	विरोधः, इति ।
अत एव = कृत-कृत्यत्वाद् गुणाद्	पूज्याः = एव ।
ते = भगवन्तः	
[एवं च–]	आशातना
का	तया = पूजया ? ।
खलु	

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १६५ ॥

अहिगरण-णिवित्ती वि इहं, भावेणऽहिगरणा णिवित्तीओ.।
तद्दंसण-सुह-जोगा गुण-ऽंतरं तीए परिसुद्धं. ॥१६६॥

‡ अधिकरण-निवृत्तिरऽपि	अत्र = पूजा-ऽऽदौ,
भावेन	अधिकरणान्निवृत्तेः = कारणात् ।
तद्-दर्शने शुभ-योगात्	तस्याम् = पूजायाम्
गुणा-ऽन्तरम्	(परिशुद्धम्) । इति-गाथा-ऽर्थः ॥१६६

ता, एय-गया चेवं (व) हिंसा "गुण-कारिणी" त्ति विण्णेया.।
तह, भणिय-णायओ च्चिय एसा अप्पेह जयणाए. ॥१६७॥

तत = तस्मात्,	"गुण-कारिणी"
"एतद्-गताऽपि = पूजा गताऽपि	इति
एवम् (व)	विज्ञेया ।
हिंसा	

तथा,
भणित न्यायतश्च
एव=अधिक-निवृत्त्या
एषा = हिंसा
अल्पा
इह यतनया। इति गाथा ऽर्थः ।।१६७

तह, संभवंत-रूवं सव्वं सव्व-ण्णु-वयणओ एअं. ।
तं णिच्छिअं[क] हिआ ऽऽगम-पउत्त-गुरु-संपयाएहिं. ॥१६८

‡ तथा,
सम्भवत्-स्व रूपम्
सर्वम्
तत्
निश्चितम्
सर्व ज्ञ वचनतः
एतत् ।
[कथिता] हिता-ऽऽगम प्रयुक्त-गुरु संप्रदायेभ्य

[त णिच्छिअ [क] हिआ-ऽऽगम पउत्त-गुरु-सपयाएहिं
एतद्=यदुक्तम् ,
तत्
निश्चित्य
सर्व-ज्ञा-ऽवगत–
कथिता-ऽऽगम-प्रयुक्ता-ऽ-निधारित-गुरु सप्रदायेभ्यः = सकाशात्]॥१६८॥

"वेय-वयणं तु णेवं, अ-पोरुसेयं तु तं मयं जेणं ।
इअम् ऽच्च-ऽ त-विरुद्धं "वयणं च" "अ-पोरिसियं च"॥१६९॥

‡ वेद वचन तु न
अ पौरुषेयमेव
तत्
इदम्
यदुत, —
"वचन च"
एवम्=सभवत् स्व रूपम् ,
मतम् ,—
येन ।
अत्य-ऽन्त विरुद्धम्=वर्तते,
"अ पौरुषेय च" ।
इति-गाथा ऽर्थ ॥१६९॥

‡ एतद्-भावनायायाऽऽह, :—

जं, "वुच्चइ" त्ति "वयणं." पुरिसा-ऽ-भावे अ णोवमेअं, ति. ।
ता तस्सेवाऽ-भावो णियमेण अ-पोरिसेयत्ते. ॥ १७० ॥

यद्=यस्मात्,
"उच्यते" इति
पुरुषा-ऽ-भावे तु
तत्,
तस्यैव = वनस्यैव
अ-भावः

"वचनम्" = [अयमऽन्व-ऽर्थः]
इत्य-ऽन्व-ऽर्थ-संज्ञा ।
नैवमेतत् = "नोच्यते" इत्य-ऽर्थः ।
नियमेन,
अ-पौरुषेयत्वे = सति आपद्यते ।'१७०॥

तव्वावार-विरहिअं ण य कत्थइ सुच्चइ इहं वयणं. ।
सवणे वि य, णाऽऽसंका अ-दिस्स-कत्तुब्भवाऽवेइ."॥१७१॥
[तव्वावार-विउत्तं ण य कत्थइ सुव्वई ह तं वयणं. ।]

‡ तद्-व्यापार-विरहितम्=[शून्यम्]
न च कदाचित् = न [क्वचित्]
श्रूयते
‡ श्रवणेऽपि च = [सति],
न
आशङ्का

इह= लोके
[तद्]
वचनम् ।
अ-दृश्य-कर्त्रुद्-भवा
अपैति, = प्रमाणा-ऽ-भावात् ।"
इति-गाथाऽर्थः ॥ १७१ ॥

"अ-दिस्स-कत्तिगं णो अण्णं सुव्वइ, कहं णु आसंका ?" ।
सुव्वइ पिसाय-वयणं, कयाइ, एअं तु ण सदेव. ॥१७२॥

‡ "अ-दृश्य-कर्तृकम्
नो=नैव
अन्यत् *

श्रूयते,
कथं-च (नु)
आशङ्का ?="वि-पक्षा-ऽ-दृष्टेः,"
इत्य-ऽर्थः ।"

---

* कलकत्ता-हस्त-लिखित-पुस्तके—अन्यतः ।

‡ अत्राऽऽह, —

"श्रूयते	पिशाच-वचनम् ।
‡ कदाचित् = कथञ्चन, लौकिकम् [एतत्]	
‡ एतत्तु=वैदिक [विद-वचन]मऽ-पौरुषेयम्	सदैव
न	श्रूयते" ॥ १७२ ॥

‡ यथा-ऽभ्युपगमे दूषणमाऽऽह, :—

"वण्णा-ऽऽद्-ऽ-पोरुसेयं." "लोइअ-वयणाणऽवीह सव्वेसिं.।
वेयम्मि को विसेसो? जेण तहिं एसऽ-सग्गहो" ॥१७३॥

‡ "वर्णा-ऽऽदि	अ-पौरुषेयम्,"
‡ "लौकिक वचनानामऽपि इह	सर्वेषाम् = वर्णा [वर्ण-सत्त्वा-]-ऽऽदि-वाचकत्वा-ऽऽदे पुरुषैरऽ करणात् [रऽ-विकरणात्] ।
वेदे	को विशेषः ?
येन, तत्र—	एषः अ-सद्-ग्रहः=अ-पौरुषेयत्वा ऽ-सद्-ग्रह, इति" ॥ १७३ ॥

"ण य णिच्छओ वि हु तओ जुज्जइ पाय कहं चि, सण्णाया.।
जं तस्सऽत्थ-पगासण-विसएह अइंदिया सत्ती ? ॥१७४॥

‡ "न च निश्चयोऽपि ततः = वेद-वाक्यात्	युज्यते प्रायः क्वचित्=वस्तुनि सन् न्यायात् ।
यद् = यस्मात्, तस्य=वेद-वचनस्य अर्थ प्रकाशन-विषया	इह = प्रक्रमे अतीन्द्रिया शक्तिः ?। इति-गाथा-र्थः. ॥१७४॥

णो पुरिस-मित्त-गम्मा तद्-ऽतिसओ वि ण बहु-मओ तुम्हं. ।
लोइअ-वयणेहिंता दिट्ठं च कहिं वि [चि] वेहम्मं. ? ॥ १७५॥

‡ न [नो] | पुरुष-मात्र-गम्या=एषा ।
तद्-ऽतिशयोऽपि | बहु-मतः
न | युष्माकम्=अतीन्द्रिय-दर्शी, ।
लौकिक-वचनेभ्यः=सकाशात् | कथंचित् [कथमऽपि]
दृष्टं च | वैधर्म्यम् ?=वेद वचनानाम् ।"

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १७५ ॥

ताणीह पोरिसेयाणि,❀ अ-पोरिसेयाणि वेय-वयणाणि. ।
सग्गुव्वसी-प्पमुहाणं दिट्ठो तह अत्थ-भेओ वि. ? ॥ १७६॥

‡ "तानि | पोरुषेयाणि=लौकिकानि ।"
इह |
"अ-पौरुषेयाणि | वेद-वचनानि"

इति वैधर्म्यम् ।

‡ "स्वर्गोर्वशी-प्रमुखानाम्=शब्दानाम् | तथा
दृष्टः | अर्थ-भेदोऽपि = [अप्सरोर्व्या-
 | ऽऽदि-रूपः] ?

"एवं च—

य एव लौकिकाः, त एव वैदिकाः ।
स एवैषामऽर्थः, इति ।
यत् किञ्चिदेतद्" ॥ १७६ ॥

"ण य तं स-हावओ च्चिय स-ऽत्थ-पगासण-परं पईओ व्व. ।
समय-विसेआ-ऽ-जोगा, मिच्छत्त-पगास-जोगा य. ॥ १७७॥

❀ वेय-वयणा ण-पोरिसियाणि. कल० हस्त-लिखित-पुस्तके ।

‡ न च
तद्=वेद वचनम्
स्व-भावतः
एव
स्वा-ऽर्थ प्रकाश-परम्,
प्रदीपवत् ।

"कुतः ?" इत्याऽऽह, —
समय-विभेदा ऽ-योगात्= संकेत भेदा ऽ-भावात्,
मिथ्यात्व-प्रकाश-योगाच्च = "क्वचिदे तदा ऽऽपत्तेः" इति भाव ॥१७७॥

‡ तथाऽऽह, :—

इंदीवरम्मि दीवो पगासइ रत्तयं अ-संतं पि, ।
चंदो वि पिअ-वत्थं "धवलं" ति, ण [य] णिच्छेओ त्तो.॥१७८॥

इन्दीवरे
दीपः
प्रकाशयति
रक्तताम्
अ सतीमऽपि,

चन्द्रोऽपि
पीत-वस्त्रम्
"धवलम्" इति=प्रकाशयति ।

न
निश्चयः
ततः=वेद वचनात् व्यभिचारिणः ।
इति गाथा-ऽर्थः ॥ १७८ ॥

एवं णो कहिया-ऽऽगम-पओग-गुरु-संपयाय-भावो ऽपि, ।
जुज्जइ सुहो इहं (अं) खलु णाएण, छिन्न-मूलत्ता. ॥१७९॥

‡ एवम्,
न
कथिता-ऽऽगम-प्रयोग-गुरु-सम्प्रदाय-भावोऽपि= प्रकृत्य ऽङ्ग-भूतः
(शुभ),
यतः —
इह खलु=वेद-वचने
न्यायेन,

छिन्न-मूलत्वात् = "तथा-विध-वचना-ऽ-संभवात् ।"

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १७९ ॥

"ण कयाइ इओ कस्सइ इह णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि ।
जाओ." त्ति. कहइ एवं जं सो तत्तं, स वामोहो. ॥१८०॥

‡ "न | निश्चयः
कदाचित् | एव
अतः = वेद-वचनात् | क्वचिद्
कस्यचिद् | वस्तुनि
इह | जातः"
| इति ।

कथयति | तत्त्वम्,
एवम् = सति | सः
यद् | व्यामोहः = स्वतोऽप्यऽ-ज्ञात्वा कथनात्
असौ = वैदिकः | [ऽप्यऽ-ज्ञत्वात्] ॥ १८० ॥

तओ अ आगमो जो विणेय-सत्ताण, सो वि एमेव ।
तस्स पओगो चेवं, अ-णिवारणगं च नियमेणं. ॥१८१॥

‡ ततश्च = वैदिकादर्थात् [वैदिका-ऽऽचार्याद् | विनेय-सत्त्वानाम् = संबन्धी,
आगमः | सः
यः = व्याख्या-रूपः | अपि
| एवमेव = व्यामोह एव ।

तस्य = आगमा-ऽर्थस्य | च
प्रयोगः | एवमेव = व्यामोह एव ।

अ-निवारणं च | नियमेन = व्यामोह एव ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १८१ ॥

णेवं परंपराए माणं एत्थ गुरु-संपयाओऽवि ।
रूव-विसेस-ट्ठवणे जह जच्च-ऽंधाण सव्वेसिं. ॥१८२॥

‡ न
एवम्
परंपराया
मानम्,
अत्र = च व्यतिकरे
गुरु संप्रदायोऽपि,

निदर्शनमाऽऽह, —

रूप-विशेष स्थापने = सितेतरा ऽऽदि-रूप विशेष-स्थापने
यथा
जात्य-ऽन्धानाम
सर्वेषाम्=अना ऽऽदि मताम् ।.१८२॥

‡ परा ऽभिप्रायमाऽऽह, —

"भवतो वि य सव्व-ण्णू सव्वो आगम-पुरस्सरं जेणं, ।
ता सो अ-पोरुसेओ, इयरो वा णाऽऽगमो जो उ." ॥१८३॥

"भवतोऽपि च,
सर्व ज्ञः
सर्वः
आगम-पुरस्सर',
येन=कारणेन ।

"स्वर्ग-केवला ऽर्थिना तपो ध्याना-ऽऽदि-कर्त्तव्यम् ।"
इति आगमः, अतः प्रवृत्तेः, इति ।

तद्,
असौ
अ-पौरुषेयः ।

इतरः = अना-ऽऽदिमान् सर्वज्ञ [अना-ऽऽदिमत् , सर्व ज्ञ-साधनत्वात्]
नाऽऽगमादेव=कस्य चित् तमऽन्त-रेणाऽ पि भावात् ।"

इति गाथा-ऽर्थः ॥ १८३ ॥

‡ अत्रोत्तरम् , :—

णोभयमऽवि, जमऽणा-ऽऽई बीय-ऽंकुर-जीव-कम्म-जोग-समं,।
अह वऽत्थतो उ एवं, ण वयणओ, वत्त-ऽहीणं तं. ॥१८४॥

न = नैतदेवम् | उभयमऽपि=आगमः, सर्व-ज्ञश्च।
यद्=यस्माद,
अना-ऽऽदि | बीजा-ऽङ्कुर--जीव-कर्म-योग-समम्।

"न हि—

अत्र—

"इदं पूर्वम् , इदं न।" इति व्यवस्था।

ततश्च-"यथोक्त-दोषा-ऽ-भावः।"

‡ अथवा,

अर्थत एव | एवम्=बीजा-ऽङ्कुरा-ऽऽदि-न्यायः सर्व एव।

"कथञ्चिदाऽऽगममाऽसाद्य, सर्व-ज्ञो जातः, तद-ऽर्थश्च तत्साधकः।"

इति—

न वचनतः = न वचनमेवाऽऽश्रित्य,

"मरु-देव्या-ऽऽदीनां प्रकारा-ऽन्तरेणाऽपि भावात्।

‡ तद्=वचनम् | वक्त्र-ऽधीनम्,

"न तु

अना-ऽऽद्यऽपि, वक्तारमऽन्तरेण वचन-प्रवृत्तेरऽ-योगात् [उपाया-ऽन्तरा-ऽ-भावात्]

तद-ऽर्थ-प्रतिपत्तिस्तु—

क्षयोपशमा-ऽऽदेरऽ-विरुद्धा, तथा-दर्शनात्।"

एतत् सूक्ष्म-धिया भावनीयम्॥ १८४॥

"वेय-वयणम्मि सव्वं णाएणाऽ-संभवंत-रूवं जं।

ता, इयर-वयण-सिद्धं वत्थु कहं सिज्झइ तत्तो ?"॥१८५॥

‡ वेद-वचने | अ-संभवत्-रूपम्,
सर्वम् = आगमा-ऽऽदि, | यद् = यस्मात्।
न्यायेन |

तत् = तस्मात् ,	कथम्
इतर-वचन-सिद्धम्=सद्-वचन-सिद्धम्	सिध्यति
वस्तु. = हिंसा दोषा-ऽऽदि	ततः = वेद वचनाद् ? ।

इति-गाथा ऽर्थं ॥ १८५ ॥

ण हि रयण-गुणा ऽ-रयणे कया-चिद ऽवि होंति उवल-साहम्मा
एवं वयण-ऽ नर-गुणा ण होंति सामण्ण वयणम्मि. ॥१८६॥

न हि	कदाचिदऽपि
रत्न-गुणाः=शिरः शूल शमना ऽऽदय	भवन्ति
अ-रत्ने	उपल साधर्म्यात् ।
‡ एवम्—	न भवन्ति
वचना-ऽन्तर गुणा =हिंसा-दोषा-ऽऽदयः	सामान्य वचने = [विशेष गुणा ऽ योगात्] ॥ १८६ ॥

तो एवं सण्-णाओ ण बुहेण अ-ट्ठाण-ट्ठावणाए उ ।
सइ लहुओ कायव्वो चास-पंचास-णाएणं. ॥ १८७ ॥

‡ तद,	अ-स्थान-स्थापनया = [वचना ऽन्तरे नियोगेन]
एवम्—	सदा
सन्-न्याय. = विशेष वचनतः	लघु
न	कर्तव्यः ।
बुधेन	

["कथम् ?" इत्याऽऽह, —

"चास पञ्चाशन्-न्यायेन (?)=] अ-सभविनोऽ सभव प्रदर्शन गत्या (?) ॥१८७॥

‡ तत्र युक्तिमाऽऽह, :—

तह, वेदे च्चिय भणियं सामण्णेणं, जहाः-"ण हिंसिज्जा-।
भूआणि." फलुद्देसा पुणो व "हिंसिज्ज." तत्थेव. ॥१८८॥

तथा,	भणितम्
वेदे	सामान्येन=उत्सर्गेण,
एव	
यथा, :—	हिंस्यात्
"न	भूतानि।"
फलोद्देशात्	"हिंस्यात्"
पुनश्च	तत्रैव = भणितम्।

"अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः।" इति। इत्य-ऽर्थः ॥ १८८ ॥

ता, तस्स पमाणत्ते वि एत्थ णियमेण होइ दोसु." त्ति-।
फल-सिद्धिए वि, सामण्ण-दोस-विणिवारणा-ऽ-भावा.॥१८९॥

‡ 'तत्,	नियमेन = चोदनायाम्
तस्य = वेदस्य	भवति
प्रमाणत्वेऽपि,	दोषः"
अत्र	इति।

फल-सिद्धावऽपि = सत्याम्।
"कुतः ?" इत्याऽऽह, :—
सामान्य-दोष-निवारणा-ऽ-भावात् = औत्सर्गिक-वाक्या-ऽर्थ-दोष-प्राप्तेरेव।
इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १८९ ॥

‡ इहैव निदर्शनमाऽऽह, :—

जह, वेज्जगम्मि दाहं ओहेण निसेहिउं, पुणो भणियं, :-।
"गंडा-ऽऽइ-खय-णिमित्तं करेज्ज विहिणा तयं चेव."॥१९०॥

यथा, वैद्यके,
दाहम्-अग्नि-विकारम्
(पुनः)
' गण्डा ऽऽदि क्षय-निमित्तम् =
"व्याध्य-ऽपेक्षया" इत्य ऽर्थः
कुर्याद्
ओघेन=उत्सर्गत
निषिध्य=दुःख करत्वेन,
भणितम्=तत्रैव फलोद्देशेन, :—
विधिना
तमेव = दाहम् । "

इति-गाथा ऽर्थ ॥ १९० ॥

तत्तो वि किरमाणो ओह-णिसेहुब्भवो तहि दोसो ।
जायइ फल-सिद्धिए वि, एवं इत्थऽवि णायव्वं. ॥१९१॥

‡ ततोऽपि=वचनात्
क्रियमाणे=अपि दाहे
ओघ-निषेधोद् भवः="ओघ निषेधाद् भवति" औत्सर्गिक निषेध विषय
तत्र
दोष =दुःख करण लक्षणः
जायते
फल-सिद्धौ=गण्ड क्षया-ऽऽदि रूपाया सत्याम्
अपि ।

‡ एवम्—
अत्र=वेदे
अपि
विज्ञेयम् ।

"चोदनातोऽपि प्रवृत्तस्य फल भावेऽप्युत्सर्ग निषेध-विषयो दोषः ।"

इति गाथा-ऽर्थ ॥ १९१ ॥

कयमित्थ पसंगेणं. जहोचिया चेव दव्व-भाव-त्थया ।
अण्णो-ऽण्ण-समणु-विद्धा णियमेणं होंति णायव्वा. ॥१९२॥

‡ अत्र= * द्रव्य-स्तव विचारे
कृतम्
प्रसङ्गेन ।

---

* वस्तु-विचारे कल०

: यथोचितावेव
द्रव्य-भाव-स्तवौ
अन्यो-ऽन्य-सम-ऽनुविद्धौ = प्रथम-
(प्रधान)-गुण-भावेन
[नियमेन
भवतः
ज्ञातव्यौ ।
अन्यथा, स्व-रूपा-ऽ-भावः] ॥१९२ ।

: [अनयोर्विधिमाऽऽह, :—]

अप्प-विरियस्स पढमो, सह-कारि-विसेस-भूअमो सेओ. ।
इयरस्स बज्झ-चाया इयरो च्चिय एस परम-ऽत्थो. ॥१९३॥

अल्प-वीर्यस्य = प्राणिनः
प्रथमः = द्रव्य-स्तवः
सह-कारि-विशेष-भूतः = [वीर्यस्य]
अतः—
श्रेयान् ।

इतरस्य = बहु-वीर्यस्य साधोः
बाह्य-त्यागात्=बाह्य-द्रव्य-स्तव(?) त्यागे
इतरः
एव = श्रेयान् , "भाव-स्तवः" इति ।
: एषः
परमा-ऽर्थः = अत्र-क्रममाऽश्रित्य
द्रष्टव्यः ॥ १९३ ॥

: विपर्यये दोषमाऽऽह, :—

दव्व-त्थयं पि काउं ण तरइ जो अप्प-विरिअत्तेणं, ।
परिसुद्धं भाव-त्थयं काहो सो-ऽ-संभवो एस. ॥१९४॥

द्रव्य-स्तवमऽपि
कर्तुम् = औचित्येन
न
शक्नोति
यः = [सत्त्वः]
अल्प-वीर्यत्वा-ऽऽदेः = [अल्प-वीर्य-
त्वेन हेतुना],

"परिशुद्धम्
भाव-स्तवम् = "यथोक्तम्" इत्य-ऽर्थः
करिष्यति = " इति,
अ-संभवः
एषः=व(ब)ला-ऽ-भावात् ॥ १९४ ॥

‡ तदाऽऽह, :—

जं सो उक्किट्ठयरं अविक्खइ विरियं इहं णियमा. ।
ण हि पल-सयं पि वोढुं अ-समत्थो पव्वयं वहइ. ॥१९५॥

[यद्,	वीर्यम् = शुभाऽऽत्म परिणाम रूपम्
असौ = भाव स्तवः	इह
उत्कृष्टतरम्	नियमात् ।
अपेक्षते	
न हि—	अ समर्थः =मन्द वीर्यस्सत्त्व ,
पल-शतमऽपि	पर्वतम
वोढुम्	वहति ।]

"भाव-स्तवोचित-वीर्य प्राप्त्युपायोऽपि द्रव्य-स्तवः एव,
न च प्रतिमा-पालनवदऽ-नियम ।
"जुत्तो पुण एस कमो ।" इत्या ऽऽदिना, द्रव्या ऽऽदि-विशेषेण नियमनात्,
गुण-स्थान-क्रमा ऽ व्यभिचाराच्च, " इति दिग् ।
"अत्र पल शत तुल्य -द्रव्य स्तवः ।
पर्वत-तुल्यस्तु भाव स्तवः" इति रहस्यम् ॥ १९५ ॥

‡ उक्तमेव स्पष्टयति, —

जो बज्झ-चाएणं णो इत्तरियं पि णिग्गहं कुणइ, ।
इह अप्पणो सया से सव्व-च्चाए कह कुज्जा ? ॥१९६॥

यः	निग्रहम्
बाह्य त्यागेन = वाह्य चित्त -विषय व्ययेन	न करोति = वन्दना-ऽऽदौ
	इह
इत्वरमऽपि	आत्मनः,

क्षुद्रः
सदा असौ = यावज्जीवम्
सर्व-त्यागेन

कथम्
कुर्यात् ?
"आत्मनो निग्रहम्" ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९६ ॥

‡ अनयोरेव गुरु-लाघव-विधिमाऽऽह, :—

आरंभ-च्चाएणं नाणा-ऽऽइ-गुणेसु वड्ढमाणेसु ।
दव्व-त्थय-परिहाणी वि ण होइ दोसाय परिसुद्धा. ॥१९७॥

आरम्भ-त्यागेन = हेतुना
ज्ञाना-ऽऽदि गुणेषु
वर्द्धमानेषु = सत्सु,
द्रव्य-स्तव-हानिः

अपि
तत्कर्तुः
दोषाय
न भवति;
परिशुद्धा = सा-ऽनुबन्धा ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९७ ॥

‡ इहैव तन्त्र-युक्तिमाऽऽह, :—

एत्तो च्चिय णिद्दिट्ठो धम्मम्मि चउ-व्विहम्मि वि कमोऽयं ।
इह दाण-सील-तव-भावणामए, अण्णहाऽ-जोगा. ॥१९८॥

अत एव = द्रव्य-स्तवा-ऽऽदि-भावात्
निर्दिष्टः = भगवद्भिः
धर्मे
चतुर्विधेऽपि
अन्यथा,

क्रमोऽयम् = वक्ष्यमाणः
इह = प्रवचने
दान-शील-तपो-भावनामये = धर्मे,
अ-योगाद् = अस्य धर्मस्य ।

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ १९८ ॥

‡ एतदेवाऽऽह, :—

संतं पि बज्झम-ऽ-णिच्चं थाणे दाणं पि जो न वियरेइ, ।
इय खुद्दओ कहं सो सीलं अइ-दुद्धरं धरइ ? ॥१९९॥

अ-सीलो ण य जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओ वि. ।
जह-सत्तीए ऽ(अ]-तवस्सी भावेइ कहं भावणा-जालं ? ॥२००॥

सद् = [अपि] विद्यमानम्
बाह्यम् = आत्मनो भिन्नम्
अ-नित्यम् = अ शाश्वतम्
स्थाने = पात्रा-ऽऽदौ

दानमऽपि = पिण्डा ऽऽदि
न
यः
वितरति = न ददाति, क्षौ-द्यात्,

"इय" = एवम्
क्षुद्र = वराकः
कथम्
असौ

शीलम् = महा पुरुषा ऽऽसेवितम्
अति-दुर्धरम्
धारयति = ? 'नव" इत्य ऽर्थः ।
इति गाथा-ऽर्थ ॥ १९९ ॥

अ-शीलश्च
न जायते
शुद्धस्य
यथा शक्ति वा
अ तपस्वी = मोह परतया
भावयति

तपसः = मोक्षा-ऽङ्ग भूतस्य
हंदि
विषयोऽपि ।
कथम्
भावना जालम् ? = तत्त्वतो नैव ।
इति गाथा ऽर्थ ॥ २०० ॥

एत्थ कम-दाण-धम्मो दव्व-त्थय-रूवमो गहेयव्वो. ।
सेसा उ सु-परिशुद्धा णेया भाव-त्थय-स-रूवा. ॥२०१॥

अत्र क्रमे
दान-धर्म
शेषास्तु
सु परिशुद्धा = शील धर्मा ऽऽदय

द्रव्य स्तव रूपः = एव
ग्राह्य. = अ-प्रधानत्वात् ।
ज्ञेयाः
भाव-स्तव-रूपाः=प्रधानत्वात् ।२०१।

‡ इहैवाऽतिदेशमाऽऽह, —

इह आगम-जुत्तीहि य तं तं सुत्तमऽहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्व-त्थया-ऽऽइ-रूवं विवेइयव्वं सु-बुद्धीए. ॥ २०२ ॥

'इय' एवम्	धीरैः = बुद्धिमद्भिः
आगम-युक्तिभिः	द्रव्य स्तवा-ऽऽदि-रूपम् भावना ऽऽलोच्य,
तत् तत्	निपुणकम्
सूक्ष्मम्	नय-युक्त्या :
अधिकृत्य	

इति-गाथा-ऽर्थः ॥ २०२ ॥

: उपसंहारमाऽऽह, :

एसेह थय-परिन्ना समासओ वन्निया मए तुब्भं । वित्थरओ भाव-ऽत्थो इमीए सुत्ताउ णायव्वो. ॥२०३॥

एषा	समासेन
इह	वर्णिता
स्तव-परिज्ञा = पद्धतिः	मया
	युष्माकम् ।
विस्तरतः	अस्याः = स्तव-परिज्ञायाः
भावा-ऽर्थः	सूत्रात्
	ज्ञातव्यः ।

इति । शिवम् ॥ २०३ ॥

जयइ थय-परिन्ना, सार-निट्ठा, सु-वन्ना,
सु-गुरु-कय-अणुन्ना, दाण-वक्खाण गुन्ना, ।
नय-निउण पइन्ना, हेउ-दिट्ठ-ऽंत-पुन्ना,
गुण-गण-परिकिन्ना, सव्व-दोसेहिं सुन्ना. । १ ॥

इति स्तव-परिज्ञया किमऽपि तत्त्वमुच्चैस्तरां
यशो-विजय-वाचकैर्यदुदऽभावि भावा-ऽर्जितम् ।
ततः कु-मत-वासना-विष-विकार-वान्तेर्बुधा
सुधा-रस-पानतो भवत तृप्ति-भाजः सदा. ॥ २ ॥

तन्त्रैः किमऽन्यैर्भग्नैव भ्रान्तिः स्तव-परिज्ञया ।
ध्वस्ता पान्थ-तृषा नद्या कूपाः सन्तु सहस्रशः ॥ ३ ॥ ॥६७॥

[अष्ट-त्रिंशत्-गाथा-गत-परिष्कार-हार्दं प्रसादीकृतमाऽऽराध्य-पादैराऽऽचार्य-श्री-विजय-नन्दन सूरिभि शास्त्र-वचन-गाम्भीर्य-विद्वद्-वरैं]

‡ एव च

"आज्ञा-शुद्ध वीतराग-गामि भाव-स्तव-हेतु -अनुष्ठानम्-द्रव्य स्तव ।" इति निर्व्यूढम् ।

भाव स्तवेऽति व्याप्ति वारणाय विशेष्यम् ।

अत्र—

विशेषण-द्वयम्-भाव स्तव-हेतुता-ऽवच्छेदक परिचायकम् ।

इति-"भाव स्तव हेतुत्वमेव लक्षण सिध्यति ।"

तत्राऽऽह, :—

जं पुण एअ-विउत्तं एग-ऽन्तेणेव भाव-सुण्णं ति ।
तं विसयम्मि वि ण तओ भाव-त्थया-ऽ-हेउओ उचिओ ॥३८॥

यत्	एतद्-वियुक्तम्=औचित्या ऽन्वे-षणा ऽऽदि-शून्यम्,
पुन	
अनुष्ठानम्	
तद्	एका-ऽन्तेनैव
अनुष्ठानम्	भाव-शून्यम्,
	इति ।
विषये = वीत-रागा ऽऽदौ	न
अपि	तकः = द्रव्य-स्तवः,
भाव त्थया ऽ हेउओ" त्ति ।	उचित.—[यथा-भूत:]
(भाव स्तवा-ऽ हेतुत., इति)	"भाव स्तवा-ऽङ्ग न ।"
"धर्म पर-निर्देशात्—	
भाव-स्तवा ऽ हेतुत्वात् ।"	

(स्पष्टा-ऽन्वयः—पुन , "यदऽनुष्ठानं एतद् वियुक्तं (औचित्या-ऽन्वेषणा ऽऽदि शून्यम्) तद् अनुष्ठान एका ऽन्तेनैव भाव-शून्यम्," इति हेतो विषयेऽपि वीत-रागा-ऽऽदावऽपि भावस्तवा ऽ-हेतुत्वात् न तक (द्रव्य स्तवः) उचित. (भाव स्तवा ऽङ्गम्) भवति ॥३८॥)

[1]अ-प्रधानस्तु भवत्येव ।

[2]हेतु-साध्या-ऽ-विशेष-परिहाराय—

[3]"अ-प्रधान-व्यावृत-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यो न" इति साध्यं व्याख्येयम् ।

---

१. अ-प्रधानो द्रव्य-स्तवस्तु भवत्येव ।

२. औचित्य-शून्यं यद्-ऽनुष्ठानम्, न तद्-ऽनुष्ठानं द्रव्य-स्तवः, भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वात् ।
यत्र यत्र भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वम्, तत्र तत्र द्रव्य-स्तवत्वा-ऽ-भावः ।
यद् भाव-स्तवा-ऽ-हेतुत्वा-ऽ-भाववद्, तद् द्रव्य-स्तवा-ऽ-भाववद् ।
यो द्रव्य-स्तवा-ऽ-भावः, स एव भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽ-भावः । एवम्-हेतु-साध्ययोरैक्यम् ।
तत्परिहाराय—

३. अ-प्रधान-द्रव्य-स्तवः—अ-प्रधान-व्यावृत-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्या-ऽ-भाववान्, भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽ-भाववत्वात् । (हेतुत्व-ऽ-भावात्) यत्र यत्र भाव-स्तव-हेतुत्वा-ऽभाववत्वम्, तत्र तत्र अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन व्यपदेश्यत्वा-ऽ-भाववत्वम् ।
एवम्—यत्र यत्र भाव-स्तव-हेतुत्वम्, तत्र तत्र अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तव-व्यपदेश्यत्वम् ।
एवम्—हेतु-साध्ययोर्भिन्न-विषयत्वम्

अत्र[4]—

यद्य[5]ऽपि (यद्वाऽपि)—

[6]शुद्धं तत्-तद्-द्रव्य स्तव [6]व्यक्तीनाम् आज्ञा-[7]विशिष्टानां वा,
न भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्ने हेतुत्वम्, व्यभिचारात्, अन-ऽनुगमाच्च ।

---

४. हेतु-साध्ययोर्व्याप्ति-प्रक्रमे

५. "न शुद्धं हेतुत्वम्" इत्यऽन्वयः ।
"नाऽपि शुद्धं हेतुत्वम्" इति चाऽन्वयः ।

६. "शुद्धम्" इति हेतुत्वस्य विशेषणम् । उत्तरत्रा-ऽपि-अध्याहार्यं एव विशेष्य-विशेषण-दले ।

७. प्रथमं तावत्—व्यभिचारा-ऽन-ऽनुगम-दोषयोः स्व-रूपे निदर्शनीये भवतः,—
(१) तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमऽन्वयः ।
तद्-ऽ-भावे तद्-ऽ-भावो व्यतिरेकः ।
हेतु-सत्त्वे साध्य-सत्त्वमऽन्वयः ।

हेत्व-ऽ-सत्त्वे साध्या-ऽ-सत्त्वं व्यतिरेक

हेतु-सत्त्वे साध्या-ऽ-भाव –अन्वय-व्यभिचार

हेत्वा-ऽ-भावे साध्य-सत्त्वम्-व्यतिरेक व्यभिचार ।

(२) अनेक-कारणेष्वऽपि कारणा-ऽवच्छेदक-धर्मस्यैकत्वमऽनुगम ।

अनेक-कारणेषु कारणता-ऽवच्छेदक-धर्माणामऽनेकत्वमऽन-ऽनुगम ।

(१) व्यभिचारो हेतु-गत-दोष

(२) अन-ऽनुगमश्च व्याप्ति-गतो दोष ।" इत्येव मे मति ।

९. अत्र—

भाव-स्तवस्य हेतुताया विचारो न,

किन्तु, भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्ने हेतुता-ऽवच्छेदकत्व-स्य विचार प्रस्तुत ।

यावद्-भाव-स्तवैक-हेतुता-विचार प्रस्तुत, इति ।

१० तेन, तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-निष्ठा न हेतुता ।

जिन-वृत्तस्य आज्ञा-निष्ठ-द्रव्य-स्तवे

जिन-वृत्तस्य भाव-स्तवस्य हेतुता वर्तते,

किन्तु, नाऽर्हद्वृत्तस्य भाव-स्तवस्य हेतुता ।

तेन, साध्य-सत्त्वे न हेतु-सत्त्वम्, तेन, परस्पर-व्यभिचार ।

तथा—

तत्-तद्-भाव-स्तवे तत्-तद्-द्रव्य-स्तवस्य-कारणता,

अथवा, अनेकेषु द्रव्य-स्तवेषु भाव-स्तवस्य हेतुता, तेन, अन-ऽनुगम ।

अनेकेषां कारणानां स्वी-कारे कारणा-ऽऽन-ऽन्त्यम् । तेन, भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्ने साध्ये हेतुता-ऽवच्छेदकमेकमेव न । तेन, अन-ऽनुगम ।

"अत्र—

"आज्ञा निष्ठानाम्" इति विशेषण ? पक्षा-ऽन्तर वा ? इति न निर्णीयते ।

आज्ञा-निष्ठानामऽपि तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-व्यक्तीना वा हेतुत्वम् ?

भाव-स्तव-निष्ठ-साध्यता-निरूपित-अ-प्रधान-द्रव्य-स्तव-व्यावृत्त-व्यपदेश्यत्वा-ऽवच्छिन्ना हेतुता न तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-निष्ठा, व्यभिचारात् ।

[11]नाऽपि—

भाव-[12]स्तव कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरिव,

[13]आत्मा ऽऽश्रयात् ।

११. नाऽपि—

भाव-स्तव-कारणत्वेन शुद्धं हेतुत्वं तत्-तद्-द्रव्य-स्तव-व्यक्तीनाम्, "आत्मा-ऽऽश्रयात्" इत्यऽन्वयः।

१२. यथा, "घट-कारणत्वेन दण्डा-ऽऽदेरऽपि आत्मा-ऽऽश्रयात्, न शुद्धं हेतुत्वम्" इत्यऽन्वयः।

१३. आत्मा-ऽऽश्रयः-कार्य-कारण-भाव-गतो दोषः।

अन-ऽवस्था-अन्योऽन्या-ऽऽश्रय-आत्मा-ऽऽश्रयाश्च कार्य-कारण-भाव-गता दोषाः।

(१) कारणा-ऽन्तर-परंपरा-संततेर-ऽ-विश्रामो ऽन-ऽवस्था-दोषः।

(२) कार्य-कारणयोः परस्परं कार्य-कारण-भावोऽन्योऽन्या-ऽऽश्रय-दोषः।

(३) यत् कारणम्, तदेव कार्यम्,

एवम्—कार्य-कारणयोरऽ-भेदः-आत्मा-ऽऽश्रय-दोषः।

अत्र –

आत्मा-ऽऽश्रय-दोषस्य प्रयोजनमिति।

घट-कार्ये दण्डस्य कारणता तत्-तद्-दण्डत्वेन नैव, तत्-तद्-दण्डत्वेन कारणतायामाऽऽत्मा-ऽऽश्रय-दोषः।

घटत्वा-ऽवच्छिन्न-कार्यस्य—

तत्-तत्-शाम-रक्त-दण्डेषु कारणतायाः सिद्धौ, दण्डे घट-कारणतायाः सिद्धिः स्यात्।

दण्डेषु घट-कारणातायाः सिद्धौ सत्यां दण्डे कारणातायाः सिद्धिः स्यात्।

घटत्वा-ऽवच्छिन्ने कार्ये केन धर्मेण दण्डस्य कारणता ?

एवम्—कारणताया अ-सिद्धौ-आत्मा-ऽऽश्रय-दोषः।

एवम् –

द्रव्य-स्तवे कारणतायाः सिद्धौ, भाव-स्तवस्य कारणता-सिद्धिः स्यात्।

भाव-स्तवस्य कारणतायाः सिद्धौ, द्रव्य-स्तवे कारणतायाः सिद्धिः स्यात्।

भाव-स्तव-द्रव्य-स्तवयोः कार्य-कारण-भावोऽ-निश्चितः, तेन-अन्यो ऽन्या-ऽऽश्रय-दोषः।

[१४]तथाऽपि—

अ-प्रधान-[१५]व्यावृत्तेन द्रव्य स्तवत्वेन

अ-खण्डोपाधिना तत्त्वम्,

[१६]गडुच्या-ऽऽदीनाम्—

ज्वर-हरण-शक्त्यैव,

शक्ति-विशेषेणैव वा।

१४ "यद्य-ऽपि—
शुद्ध हेतुत्व न, व्यभिचारात्, अन-ऽनुगमाच्च
ना-ऽपि शुद्ध हेतुत्वम्-आत्मा-ऽऽश्रयात् ।
तथा-ऽपि—
अ-खण्डोपाधिना तत्त्वम्-शुद्ध-हेतुत्वम् ।
अथवा—
"शक्ति-विशेषेणैव शुद्ध हेतुत्वम्" इति विषय-सबन्ध ।

१५ भाव-स्तवत्वा-ऽवच्छिन्न-कार्यता-निरूपिता अ-प्रधान-व्यावृत्तत्वा-ऽवच्छिन्न-द्रव्य-स्तव-निष्ठा हेतुता, अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्व-रूपा-ऽ-खण्डोपाध्य-ऽवच्छिन्ना
यथा-घटे दण्डस्य कारणता दण्डत्व-जाति-रूपेण—
तथैव—
अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन ।
द्रव्य-स्तवत्व न जाति,
किन्तु, अ-खण्डोपाधि, तद्-रूपतया कारणता,
न तु द्रव्य-स्तवत्वा-ऽवच्छेदकै केनऽपि धर्मा-ऽन्तरे ।

१६ यथा—
गडूची-गो-क्षुरा-ऽऽदि-द्रव्याणा सर्वेषा समूह-रूपेणौषध-द्रव्येण ज्वरस्य हरण भवति ।
सर्व-ज्वर-हर-द्रव्य-समूहे एका ज्वर-हरण-रूपा विशिष्टा शक्ति प्रादुर्भवति ।
तेन शक्ति-विशेषेण ज्वरस्या-ऽपहरण भवति ।
तस्मात्,
ज्वर-नाशे तत्-तद्-द्रव्यस्य तत्-तद्-द्रव्य-रूपेण न कारणता,
किन्तु, स-कल-द्रव्य-समूह-निष्ठ-शक्ति-विशेष-रूपेणैव कारणताऽवगन्तव्या ।
एवम्—
अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वा-ऽवच्छेदका यावन्तो धर्मा, तैर्न कारणता ।
किन्तु, स-कला-ऽसा-ऽन्तर-धर्मा-ऽवच्छिन्ना भाव-स्तव-जनिका विशिष्टा शक्ति अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवे ।
तेन-शक्ति-विशेषेण कारणता ।
अर्थात्—अ-खण्डोपाधिना शुद्ध हेतुत्व भाव-स्तवे अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तवत्वेन ।
अथवा,
द्रव्य-स्तव-निष्ठ-शक्ति-विशेषेण भाव-स्तव-निष्ठ-कार्यताया अ-प्रधान-व्यावृत्त-द्रव्य-स्तव-निष्ठ-कारणता ।

[१०]विशेषण-द्वयं तु परिचायकम्।

१७. तेन--

"आज्ञा-शुद्धम्" "वीत-राग-गामि"

एते द्वे विशेषणे हेतुता-ऽवच्छेदक-परिचायके, न तु हेतुता-ऽवच्छेदके,

तेन--न तु लक्षणा-ऽन्तर्गतत्त्वेन दोष-व्यावृत्त्य-ऽर्थे।

इति।

श्री-जिना-ऽऽज्ञा-धारकत्व-सूचक-स-शिख-केसर-चन्दन-तिलक-युक्त-ललाट-महत्त्वम्।

तिलक-युत-ललाट-भ्राजमानाः स्व-भाग्या ऽ

ङ्कुरमिव समुदीतं दर्शयन्ते जनानाम्।

स्फुरद्-ऽ-गुरु सुमा-ऽऽली-सौरभोद्गार-साराः

कृत-जिन वर पूजा देव रूपा महेभ्याः ॥ १ ॥

आनन्दमाऽन्तरमुदारमुदाहरन्ती

रोमा-ऽञ्चिते वपुषि स-स्पृहमुल्लसन्ती।

पुंसां प्रकाशयति पुण्य-रमाः समाधि-

सौभाग्यमऽर्चन-कृतां निभृता दृगेव ॥ २ ॥

स्पृशयति तिलक शून्यं नैव लक्ष्मीर्ललाटम्

मृत सु-कृतमिव श्री-शौच संस्कार हीनम्।

न-कलित-भजनानां वल्कलान्येव वस्त्रा-

ण्यपि च शिरसि शुक्लं छत्रमऽप्युग्र-भारः ॥३॥

अकृताऽर्हत्पूजस्य (?) तस्करस्येव लोचने।

शोचनेनैव संस्पृष्टे गुप्त पातक-शङ्किते ॥ ४ ॥

[प्रतिमा-शतक-वृत्तिः--६८]

"ऍ" नमः

न्याय-विशारद-न्याया-ऽऽचार्य-श्री-मद्-यशो-विजयजी-वाचक-
वर-विरचित-अवचूरिका सहित-अ-ज्ञात-नामो-
श्री-पूर्व-धर-पूर्वा-ऽऽचार्य-भगवन्त-विरचित—

स्तव-परिज्ञा

--की--

[हिन्दी] भावाऽर्थ-चन्द्रिका ।

*

योजक-प्रकाशक-संपादक:—
प्रभुदास बेचरदास पारेख
राजकोट

*

अथ स्तव-परिज्ञया प्रथम-देशना-देश्यया
गुरोर्गरिम-सारया स्तव-विधिः परिस्तूयते ।
इयं खलु समुद्धृता स रस-दृष्टि-वादा-ऽऽदितः
श्रुतं निर-ऽघमुत्तमं समय-वेदिभिर्भण्यते. ॥ १ ॥

अब,
मैं—
श्री-तीर्थंकर प्रभु की प्रथम-देशना रूप और
गंभीर सार से भरपूर
श्री स्तव परिज्ञा-नामक ग्रन्थ द्वारा (द्रव्य और **भाव**-रूप) स्तव का विधि-
का प्रारंभ करता हूँ ।
इस (स्तव-परिज्ञा) ग्रन्थ का उद्धार श्री **दृष्टिवाद** आदि से किया गया है,
और
श्री शास्त्रज्ञ महापुरुषों का कहना है कि--
"यह निर्दोष और उत्तम शास्त्र-ग्रन्थ है" ॥ १ ॥

"स्तव–परिज्ञा" ग्रन्थ खूब उपयोगी है ।" यह समझकर,
(श्री हरिभद्र-सूरीश्वरजी विरचित) **पञ्च वस्तु** शास्त्र में जिस प्रकार
देखने में आया है, उसी प्रकार से—
इस प्रकार लिखा जाता है,—

(१ प्रास्ताविक)

"एअमिहमुत्तम-सुअं 'आइ'-सद्दाओ थय-परिण्णा-ऽऽई." ।
"वण्णिज्जइ जीए थओ दु-विहो वि गुणा-ऽहि-भावेण." ॥१॥

‡ यहां—
"यह उत्तम शास्त्र है,"
यह आदि शब्द से "स्तव-परिज्ञा" आदि **प्राभृतों** को समझने चाहिये ।

(२ प्रारंभ)

‡ जिस ग्रन्थ में—
गौण और मुख्य भाव से दोनों प्रकार के भी स्तवों का वर्णन हो,
उसका नाम **स्तव परीज्ञा** है ॥ १ ॥

पाठकों को सूचना— पंच वस्तु ग्रन्थ गत विशेषता [ ] इस प्रकार के कोष्टक में, और--संपादकीय विशेषता ( ) इस प्रकार के कोष्टक में–प्रायः निर्दिष्ट है । संपादक ।

विशेषार्थ—

१. उत्तम अर्थो का वर्णन जिसमे पाया जाय, उसे उत्तम शास्त्र कहा जाता है।

२ "स्तव-परिज्ञा" आदि विशेष प्रकार के प्राभृत है।

‡ ३ पंच-वस्तु शास्त्र के अनुज्ञा अधिकार मे उत्तम शास्त्रो की गणना मे स्तव परिज्ञा और ज्ञान परिज्ञा प्राभृतों का निर्देश किया गया है।

‡ ४ "स्तव परिज्ञा का भावार्थ क्या है ?"
इस प्रश्न का उत्तर–"गौण रूप से और प्रधान रूप से, द्रव्य स्तव शब्द से वाच्य, और भाव स्तव शब्द से वाच्य है–कहे जाते हैं, उन दोनों का वर्णन जिस ग्रन्थ रचना मे किया गया हो, वह स्तव परिज्ञा है।

‡ यही आगे बताया जाता है,—

(३ द्रव्य स्तव और भाव स्तव)

दव्वे भावे अ थओ "दव्वे-भाव थय रागओ विहिणा
जिण भवणा-ऽऽइ विहाण" "भाव-थओ सजमो सुद्धो" ॥२॥

‡ १ द्रव्य-स्तव और भाव स्तव दो प्रकार के स्तव है।

‡ २ द्रव्य-स्तव भाव स्तव के प्रति अनुराग से जिन मदिर आदि को विधि पूर्वक करना, और कराना। आदि–शब्द से-जिन-बिम्ब, पूजा आदि का सग्रह समझना चाहिये।

‡ ३. भाव स्तव–निरतिचार पूर्वक साधु क्रिया रूप शुद्ध सयम का पालन समझना चाहिये ॥ २॥

विशेषार्थ

भाव स्तव करने की इच्छा (भावना) की प्रेरणा के बल से—
"जिन-भवन कराना" आदि प्रवृत्ति मे जिस जिस प्रवृत्तियों का समावेश होता है, वे सभी द्रव्य-स्तव शब्द से व्यवहार करने योग्य है।

(अर्थात्-द्रव्य स्तव और भाव स्तव मे ही जैन धर्म के सभी आचारो का एव चरणानुयोग का पूरा समावेश हो (देखिये गाथा २०२) सकता है।

(४ जिन भवन कराने का सक्षिप्त विधि)

"जिण-भवण-कारण-विही :- सुद्ध भूमि दलं च कट्ठा-ऽऽई ।
भिअगा-ऽण-ऽइ-संधाणं सा ऽऽसय-वुड्ढी, समासेण." ॥ ३ ।

‡ जिन भवन कराने का संक्षेप में यह विधि है–

१. शुद्ध भूमि,

२. काष्ठादिक (शुद्ध) पदार्थ– दल ।

३. कर्म कर–मंदिर आदि के काम करने वाले कारीगर के साथ निखालस एवं स्पष्ट व्यवहार से वर्तन रखना ।

४. हृदय में स्व शुभ-भाव की वृद्धि ॥ ३ ॥

"दव्वे भावे अ तहा सुद्धा भूमी." "पएस-ऽ-कीला य ।
दव्वे. "ऽ-पत्तिग-रहिया अन्नेसिं होइ, भावे उ." ॥ ४ ॥

‡ **१. शुद्ध भूमि—**

द्रव्य से और भाव से एवं शुद्ध भूमि दो प्रकार से देखी जाती है,

‡ १ तपस्वी जन के निवास योग्य और हड्डी आदि से रहित भूमि हो, वह **द्रव्य से-शुद्ध भूमि ।**

‡ **२. भाव से शुद्ध भूमि—**

जिसमें जिन मंदिर बनवाना हो, उस भूमि के आस पास में किसी को किसी तरह के दुःख की अनुभूति न हो, और अ प्रीति न हो, अ-समाधि न हो । ४

"धम्म-ऽत्थमुज्जएणं सव्वस्सा-ऽ-पत्तियं न कायव्वं." ।
इय संजमो वि सेओ. इत्थ य भयवं उदा-ऽऽहरणं. ॥ ५ ॥

‡ जो धर्म करने के लिए तैयार हुआ हो, उसका कर्तव्य है, कि–सभी के लिए वह लेशमात्र भी अ-प्रीति के कारण भूत न हो ।

‡ संयम भी इसी से ही कल्याणकारी सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । (अ-प्रीति युक्त संयम भी कल्याणकारी नहीं)

इस विषय में खुद श्री **महावीर-वर्धमान** स्वामी तीर्थंकर प्रभु दृष्टान्त रूप है ॥ ५ ॥

"सो तावसा-ऽऽसमाओ तेसि अ-अप्पत्तियं मुणेऊण, ।
परम अ-बोहि-बीअं, तओ गओ हतऽ काले वि '' ॥ ६ ॥

‡ (गुणो के द्वेष से होने वाली एव) परम अ-बोधि (सम्यक्त्व गुण के अभाव) के कारण (उन तापसो की) अप्रीति को (मन पर्याय ज्ञान से) समझकर, वह भगवान ने अ-काल मे भी वर्षा चातुर्मास मे भी-तापस के आश्रम से विहार कर दिया था ॥ ६ ॥

विशेषार्थ

‡ वह तापस के आश्रम के कुलपतिजी प्रभु के पिता के मित्र रूप एवं पितृव्य चाचा तुल्य थे । इससे चातुर्मास के लिए आग्रह किया था। किन्तु वर्षा न होने के कारण गौओ के समूह ने झोपडी के तृण को खा डाला । निरीह प्रभु ध्यान मे थे । तापसो की अप्रीति का यह कारण बन गया था । ६

इसी रीति से —

' इय सव्वेण वि सम्म सक्क ण प्पत्तिय सइ जणस्स ।
णियमा परिहरियव्व." "इयरम्मि सत्तत्त-चिंताओ." ॥ ७ ॥

परलोक (हित) को चाहने वालों ने प्रयत्न पूर्वक जहा तक बने वहां तक-सदा के लिए, सभी जीवों की अप्रीति से अवश्य ही दूर रहना चाहिये । जहा पर—
अप्रीति दूर न की जा सके,
वहा पर—
उत्तम तत्त्व की विचारणा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

विशेषार्थ

बाह्य से-"यह मेरा ही दोष है ।"
ऐसा उत्तम तत्त्व का विचार करना चाहिये । और
अन्तर्मुख से-उदासीन रहना चाहिये ॥७॥

॥ भूमि शुद्धि समाप्त ॥

‡ २ काष्ठादिक पदार्थों की-दलों-की शुद्धि–

कट्ठा-ऽऽई वि दलं इह सुद्ध, ज देवता-ऽऽदुपयणाओ ।
नो अ विहिणोवणीअं, सय प काराविय ज नो. ॥ ८ ॥

श्री जिन मन्दिर बनवाने में काष्ठादि-दल-पदार्थ-वही शुद्ध होती है, कि जो—

१. देवताओं आदि के बागों से—

और

२. आदि-शब्द से श्मशान आदि से लिया गया न हो,

३. अ-विधि से लिया गया न हो,
(अर्थात् बैल आदि को कष्ट पहुँचा कर न लाया गया हो।)

४. और (ईंट आदि स्वयं पकाकर न बनाया गया हो, किन्तु दूसरों से उचित मूल्य से खरीदा गया हो) ॥८॥

तस्स वि अ इमो णेओ सुद्धा-ऽ-सुद्ध-परिजाणणोवाओ,ः- ।
तक्कह-गहणाओ जो सउणेयर सन्निवाओ उ. ॥९॥

और वह-काष्ठादि पदार्थों की शुद्धि और अ-शुद्धि जानने का उपाय यह समझना चाहिये,— उन पदार्थों को

१. प्राप्त करने का खरीदी-सौदा-वार्तालाप करने का

और

२. ग्रहण करने का

१. शुभ शकुनो की उपस्थिति में हो, तो शुद्धि।

२. और अशुभ शकुनो की उपस्थिति में हो, तो-अशुद्धि ॥ ९ ॥

शुभ और अ-शुभ शकुने

नंदा-ऽऽइ-सुहो सद्दो, भरियो कलसो य सुन्दरा पुरिसा, ।
सुह-जोगा-ऽऽइ य सउणो, कंदिय-सदा-ऽऽइ इयरा उ. ॥१०॥

‡ १. शुभ शकुन—१ वाजीन्त्र आदि के मांगलिक शब्द,
२ शुभ जल आदि से भरा हुआ पूर्ण कलश (घडा),
३ धर्मनिष्ठ पुरुषों का सामने दर्शन
४ लग्नादि शुभ व्यवहार का योग

‡ २, अ-शुभ शकुन— रुदन आदि के शब्द, इत्यादि, ॥१०॥

दल शुद्धि समाप्त

‡ दल शुद्धि मे विशेषता—

सुद्धस्स वि गहियस्स पसत्थ-दिअहम्मि सुह-मुहुत्तेण ।
सकामणम्मि वि पुणो विण्णेया सउणमा-ऽऽईया ॥ ११ ॥

ग्रहण किया हुआ शुद्ध काष्ठादिक पदार्थो का उपयोग भी करने के लिए प्रवेश कराने का भी, शुक्ल पचनी आदि उत्तम दिन मे
और
शुभ मुहूर्त मे करना चाहिये ।
उस समय भी सुभाशुभ शकुनो को देखना चाहिये । (अर्थात्-शुभ शकुनो मे उनका उपयोग करने का प्रारभ करना चाहिये, और अ शुभ शकुनो मे नही ॥११॥

‡ ३ काम करने वालो के साथ अच्छा व्यवहार,—

कारवणे वि य तस्सिह भयगाणाऽतिसधाण ण कायव्व ।
अधि याऽहिय प्पयाण दिट्ठाऽदिट्ठ फल णेय ॥ १२ ॥

जिन मदिर बनवाने के कार्य मे भी-काम करने मे-कार्य करने वालो को तग नहीं करना चाहिये, और योग्य शुल्क देना चाहिये ।
और अधिक देने से निम्न लिखित प्रत्यक्ष और परोक्ष फल जानने चाहिये ॥१२॥

‡ फल बताये जाते हैं—

ते तुच्छया वराया अहिण्ण दढ उवेति परितोस, ।
तुट्ठा य तत्थ कम्म तत्तो अहिय पकुव्वति १३ ॥

प्रत्यक्ष फल-ये कर्मकर वग थोडे मे सतुष्ट रहता है, और मृदु स्वभाव का भी रहता है । अधिक देने से खूब खुशी रहते हैं । और खुशी में आकर-(मदिर जी के) काम में पूव से अधिक काम करते रहते हैं । ॥ १३ ॥

(यह दृष्ट फल है)

धम्म-प्पससाए तह केइ नियघिति बोहि-बीइ ।
अन्ने य लहुय कम्मा एत्तोच्चिय सपवुज्झति ॥ १४ ॥

‡ १ परोक्ष फल–१ आत्मा मे कुशल भाव होने से ।
धर्म की प्रशसा करते करते कोई-कोई कार्यकर बोधि बीज की परपरा को प्राप्त कर लेता है। और
२ पूर्व का पाप कर्म अल्प होने से कितनेएक कार्यकर उदारता का पक्षपाती बनकर बुझकर धर्म मार्ग भी प्राप्त कर लेते हैं॥१४

लोगे अ साहु-वाओ अ-तुच्छ-भावेण "सोहणो धम्मो".।

"पुरिसुत्तम-पणीओ." पभावणा एवं तित्थस्स. ॥ १५ ॥

कंजूसपना न होने से—
"यह धर्म बहुत अच्छा है." कि जो–"पुरुषोत्तम महापुरुषों का बतलाया हुआ है।" "जिससे दया की प्रवृति सर्वत्र फैलती है"।
इस प्रकार से लोक में धर्म की प्रशंसा होती है, और
जैन शासन की प्रभावना भी बढ़ती है ॥१५॥

इस प्रकार परोक्ष फल होता है।

कार्य करों को संतुष्ट रखने का दोनों फल कहा गया।

‡ ४. (मन में) शुभ भाव की वृद्धि—

सा-[सु-आ]ऽऽसय-वुड्ढी वि इहं भुवण-गुरु-जिणिंद गुण-परिण्णाए।

तब्बिंब-ठावण-ऽत्थं सुद्ध-पवित्तीइ णियमेणं. ॥ १६ ॥

१. "संसार रूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को उसे बचने के लिये यही एक सहारा है।"
इस प्रकार त्रिभुन गुरु श्री जिनेश्वर भगवंतो के गुणों की योग्य समझ पूर्वक उनके प्रतिमाजी की स्थापना करने की शुद्ध प्रवृत्ति की जाती है। जो अवश्य ही शुभाशय की वृद्धि रूप है ॥ १६ ॥

"पेच्छिस्सं एत्थ अहं वंदणग निमित्तमाऽऽगए साहू।

कय-पुण्णे भगवंते गुण-रयण निही महा सत्ते ॥ १७ ॥

२. "पुण्यशाली, गुण रूपी रत्नो के भंडार, महा सात्त्विक, दर्शन करने के योग्य और मोक्ष मार्ग के साधक साधु भगवंतो–इस मंदिर में श्री जिनेश्वर देव को वंदना करने के लिए अवश्य पधारेंगे,
तब मेरे को भी, इस मंदिर में उन्हीं के दर्शन करने का प्रसंग प्राप्त होगा ही" ॥ १७ ॥

पडिबुज्झिस्संति इह दट्ठूण जिणिंद-बिम्बमऽ-कलंकं,।

अण्णे वि भव-सत्ता काहिंति ततो परम धम्मं. ॥ १८ ॥

३. मोह रूप महा अंधकार को नष्ट करने में कारण रूप निष्कलंक श्री जिन प्रतिमाजी का इस जिन मंदिर में दर्शन पा कर और भी अनेक लघुकर्मी भव्य आत्माओं प्रतिबोध पायेंगे, और संयम रूप परम धर्म को प्राप्त करेंगे ॥१८॥

"ता, एअ मे वित्त जद-ण्य विणिओगमेति अण ऽवरय"।
इय चिन्ताऽ-पवितविया सा-[सु आ]ऽऽसय वुड्ढी उ मोक्ख फला. ॥१९॥

५ "इन कारणों से यह मेरा धन प्रशंसनीय है, कि जो-सदा इस मंदिर के काम में लगता रहता है।"
इस प्रकार की धारा प्रवाह बद्ध सतत चिन्ता, विचारणा, भावना उत्तम आशयों की वृद्धि रूप ही है।
इसका फल मोक्ष ही है। ॥ १९ ॥
जिन मन्दिर बनवाने का संक्षिप्त विधि कहा गया।

: (५ श्री जिन मंदिर बन जाने के बाद के कर्तव्य-)

निप्फाइय जयणाए जिण भवणं सुंदरं, तहिं बिंबं।
विहि कारियमऽह विहिणा पइट्ठविज्जा अ सऽममं ॥२०॥

"छाना हुआ पानी आदि का ही उपयोग करना" इत्यादि यतना पूर्वक सुंदर जिन मंदिर बनवाकर,
उस मंदिर में—
विधि पूर्वक बनवायी हुई श्री जिनेश्वर भगवन्त की प्रतिमाजी की प्रतिष्ठा त्वरता से विधि पूर्वक करानी चाहिये ॥ २० ॥

: (६ श्री जिनेश्वर देव की प्रतिमाजी को कराने का विधि)

जिण बिंब कारणं विहि, —कारी सऽमुइऽण बहुमाण ।
विसुद्धो निअ-मुल्ल ऽप्पणमऽणघ ऽस्सउ सुहेण भावेण. ॥२१॥

जिन प्रतिमाजी बनवाने का विधि,—

१ बनाने वाले कारीगर की सुगंधि पुष्प और वस्त्रादि से शुभ मुहूर्त में पूजा करनी चाहिये,
२ उस पवित्र कारीगर का शुभ भाव से और सन्मान पूर्वक ... व ... के अनुसार द्रव्य को ... से अर्पण करना चाहिये। २१।

कारिवमहऽऽ कर्ने असंत [illegible] ऽणमुल्लऽणो भवद्द।
निअमेइ बिंब मोल्लं ऽज्ञाविणं कालमाऽऽऽसज्ज । २२॥

३ यदि ऐसा पवित्र कारीगर न मिले तो, दूसरे प्रकार के कारीगर को बनाने का विधि पूर्वक ... कर, उसके लिए ... करना चाहिये।

और समय समय पर जो मूल्य योग्य माना जाता हो, एवं उचित हो, वह मूल्य प्रतिमाजी का निर्माण करने का रुपये आदिक की संख्यादिक से ठहरा लेना चाहिये, जिससे अपने को भी ठगाना न हो, और कारीगर को भी ठगना न चाहिये। ॥२२॥

‡ (७ प्रतिष्ठा-विधि)

णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही ऐसो, :—
स-ट्ठाणे सुह-जोगे अहि वासणमुच्चिय-पूआए. ॥ २३ ॥
चिइ वंदण-थुइ-वुड्ढी. उस्सग्गो सासण-सूरीए, ।
थय सरण, पूआ काले, ठवणा मंगल-पुव्वा उ. ॥ २४ ॥
सत्तीए संघ-पूआ, विसेस-पूआ उ बहु-गुणा एसा. ।
जं एस सुए भणिओ,:—"तित्थ-यरा-ऽण-ऽ'रो संघो." ॥२५॥

‡ सर्व गुण संपन्न प्रतिमाजी को बन जाने के बाद शुभ भाव पूर्वक प्रतिष्ठा कराने की विधि यह है,—

(१) जहां वह (प्रतिमाजी) महाराज विराजमान हो वहां जाकर,
(२) (काल की अपेक्षा से) शुभ योग में,
(३) स्ववैभव के अनुसार,
(४) उचित पूजा पूर्वक अधिवासना करनी चाहिये ॥२३॥

बाद में—

अच्छी तरह से—

(५) चैत्यवंदना,
(६) वृद्धि पूर्वक स्तुति (प्रथम छोटे वृत के श्लोक से, उत्तरोत्तर बड़े बड़े वृत्त के श्लोक से स्तुति करनी चहिये)

जाग्रती पूर्वक—

(७) शासन देवता का और
(८) श्रुत ज्ञान देवता का कायोत्सग करना,
(९) स्मरण पूर्वक चतुर्विंशति जिन स्तव कहना,
(१०) पुष्पादि से पूजा और
(११) उचित समय में—

(१२) श्री नमस्कार महामत्र का स्मरण पूर्वक

(१३) श्री जिन प्रतिमाजी की स्थापना करनी चाहिये,

(१४) तथा शक्ति अनुसार और स्ववैभव के उचित श्री सघ की पूजा करनी चाहिये क्योंकि-(दिगादि गत) विशिष्ठ पूजा से भी सघ पूजा अधिक लाभकारी है। सघ की पूजा का विषय बहुत ही व्यापक है, इससे इसका महत्व बहुत ही है। शास्त्र मे भी कहा गया है कि—
"श्री तीर्थ कर परमात्मा के बाद महत्त्व की वस्तु श्री सघ है।" इससे वह महान् है।

विशेषार्थ

"व्याप्य से व्यापक का महत्त्व अधिक रहता है" (श्री तीर्थ कर प्रभु स्थापित श्री जैन शासन और श्री सघ व्यापक है, और सभी धर्म प्रवृत्ति व्याप्य है।
यह रहस्य समझना चाहिये। स०)॥ २३, २४, २५ ॥

‡ यही बात आगे कही जाती है,—

गुण-समुदाओ सघो पवयण, तित्थ, ति होइ एग ऽट्ठा।
तित्थ यरो वि य एअ णमए गुरु भावओ चेव. ॥२६॥

"गुण का समुदाय को सघ कहा जाता है"
क्योंकि-सघ के अनेक आत्माओं मे सम्यग् दर्शन आदि गुण भरे रहते हैं—
"प्रवचन, तीर्थ" इत्यादि श्री सघ के अनेक पर्याय शब्द है।

श्री तीर्थंकर परमात्मा भी
धर्म कथा का प्रारभ करने से पहले, गुरु भाव से ही "णमो तित्थस्स" "तीर्थको नमस्कार हो।" एसा कह कर, तीर्थ शब्द से श्री सघ को नमस्कार करते हैं।
इस कारण से श्री सघ का बडा महत्व है ॥ २६ ॥

‡ इस विषय में दूसरा भी प्रमाण दिया जाता है,—

तप्पुव्विया अरहया पूइय-पूआ य, विणय कम्म च.।
कय-किच्चो वि जह कह करेइ, णमए तहा तित्थ ॥ २७॥

अरिहंतपना तीर्थ से प्राप्त होता है, इस कारण से पूजित (तीर्थ) की पूजा की जाती है, जो विनय-कर्म रूप है ।

कृत-कृत्य होने पर भी जिस तरह तीर्थंकर भगवान् धर्मकथा करते हैं, उसी प्रकार (प्रभु) तीर्थको भी नमस्कार करते हैं ॥२७॥

विशेषार्थ

१. तीर्थ द्वारा ही धर्मानुष्ठान प्राप्त कर तीर्थंकरपना प्राप्त होता है,

२. लोक में भी पूजित की पूजा की जाती है ।

३. जिससे लाभ प्राप्त हुआ हो उसके प्रति कृतज्ञता धर्म पूर्वक भगवान ने भी विनय कर्म किया है ।

४. वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु कृत-कृत्य होने पर भी तीर्थंकर नाम कर्म का उदय से जिस तरह धर्म कथा रूप प्रवृत्ति करते हैं, उसी तरह तीर्थको भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि—इस प्रवृत्ति में औचित्य भी है ॥२७॥

एअम्मि पूइयम्मि, णऽत्थि तयं, जं न पूइयं होइ ।
भुवणेऽवि पूअणिज्जं ण अत्थि ठाणं [ण गुण-ट्ठाणं] तओ अण्णं. ॥२८॥

१. उस (श्री संघ की–तीर्थ की) पूजा करने से, (इस विश्व में) एसा कोई भी पूजनीय नहीं हुआ है, कि जिसकी पूजा न हो जाय ।

२. त्रिभुवन में एसा कोई भी स्थान नहीं है, जो उससे अधिक पूजनीय हो ॥२८॥

तप्पूआ परिणामो हंदि महा-विसयमो मुणेयव्वो. ।
तद्-देस-पूअओ वि हु देवय-पूआ-ऽऽइ-णाएणं. ॥ २९ ॥

१. श्री संघ माहान्-तम होने से, उसकी पूजा का परिणाम होना, यह भी सचमुच महा विषय रूप है,= अति महत्त्व की वस्तु है ।

२ उसका एक देश की पूजा भी,–देव के एक देश की पूजाको तरह सर्व पूजा रूप हो जाती है ॥ २९ ॥

विशेषार्थ

१ जिस तरह देव के एक भाग की–अंग की–पूजा देव की सर्व पूजा रूप होती है, उसी तरह श्री संघ के एक भाग की पूजा करने से, संपूर्ण श्री संघ की भी पूजा हो जाती है, क्योंकि– संघ एक ही होने से उसका एक भाग भी संपूर्ण माना जाता है ।

-सु विशेषार्थ

यहा पर समझने का सार यह है,'कि—एक'विभाग की क्रिया मे जिस तरह (सर्व-) देश का परिणाम होता है उसी तरह—
व्यक्तिगत क्रिया मे–नजदीक-पना के सम्बन्ध विशेष से–सभी व्यक्ति सम्बन्धि भी–सामान्य सबन्धि परिणाम भी–हो जाता है" यह सिद्धात सिद्ध करने मे कोई मुश्किल बात नहीं है (?) ॥२९॥

‡ फिर भी आगे का पूजा विधि बताया जाता है,—

तत्तो य पइ दिण सो करिज्ज पूअ जिणिंद-ठवणाए ।
विभवा-ऽणुसार-गुरुई काले णियम विहाणेण । ३० ॥

प्रतिष्ठा के बाद मे श्रावक श्री जिनेश्वर देव की स्थापना की–प्रतिमाजी की-
१५ प्रतिदिन स्व विभव अनुसार-योग्य धन व्यय पूर्वक—
१६ दर रोज-प्रतिदिन,
१७ योग्य समय मे
१८ भोजनादि के समान निश्चित रूप से–अवश्यतया–
१९ भव्यता पूर्ण
२० अभ्यर्चना रूप
२१ पूजा करनी चाहिये ॥३०॥

‡ जिन पूजा ही बता रहे है,—

जिण-पूआए विहाण,–सूई-भूओ, तए चेय उवउत्तो, ।
अण्ण ऽ गम-ऽछिवन्तो करेइ ज [प]वर-वत्थूहि ॥ ३१ ॥

पूजा का विधि—

१ पूजा करने का उद्देश्य से–उसमे ही उपयुक्त होकर प्राणिधान पूर्वक-दत्त-चित्त वाले–होकर,
२ स्नानादिक से पवित्र होकर,
३ (स्वशरीर के भी) मस्तक आदि किसी भी अग का स्पर्श न करते हुए,
४ सुगन्ध युक्त पुष्पादि उत्तम पदार्थो से पूजा करनी चाहिये ॥३१॥

‡ शेष विधि भी यहा बताया जाता है—

द्रव्य स्तव की व्याख्या में—
सूत्राज्ञा पूर्वकता रूप
निमित्तविशेष को यदि न रखा जाय, तो,
इस प्रकार से संसार की सारी प्रवृत्तियां समान रूप से ही द्रव्य स्तव सिद्ध हो जाय ॥३६।

‡ "इस अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए क्या क्या विशेषण जोड़ना चाहिये ?" इस प्रकार की शंकाएं उठाकर, कहा जाता है, कि—

"जं वीय-राय-गामि, अह तं" "णणु सिद्धणा-ऽऽदि वि स एवं ।
सियं ?" "उचियमेव जं, तं," "आणा-ऽऽराहणा एवं." ॥ ३७ ॥

"जो अनुष्ठान वीतराग गामि हो, उसको द्रव्य स्तव कहा जाय ?"
"तो—श्री वीतराग प्रभु की यदि कोई निंदा करे, तो वह कार्य भी वीतराग गामि प्रवृत्ति (अनुष्ठान) बन जाती है। तो-वह कार्य और निमित्त न होने पर भी, क्या द्रव्य स्तव हो ही जाय ?"
"नहीं"
इस कारण से-"जो अनुष्ठान वीतराग गामि हो, और उचित हो," वह द्रव्य स्तव बनता है ।
इस प्रकार-"जो अनुष्ठान वीतराग गामि-वीतराग भगवंत के प्रति हो और वही अनुष्ठान उचित भी हो, तो वह अनुष्ठान द्रव्य स्तव है," ऐसा कहने से द्रव्य स्तव की निर्दोष व्याख्या बनती है।
"तब तो, द्रव्य-स्तव की व्याख्या में उपरोक्त कोई दोष नहीं आता है न ?
इस प्रकार से आज्ञा की आराधना अवश्य होती है-दोष नहीं रहता है।
"प्राय:" उचित भी वही है. कि-जो आज्ञा सिद्ध हो" यह भाव है ॥३७।

विशेषार्थ

१ उचित शब्द रखा जाय, अथवा आज्ञा सिद्ध शब्द रखा जाय, वह समान ही है ॥३७॥

‡ (अति सूक्ष्म विचारणा)
१ इस प्रकार से
 १ "आज्ञा शुद्ध हो,
 २ वीतराग गामि हो, और

३ भाव स्तव हेतु भूत हो,
ऐसा अनुष्ठान ही,
यह द्रव्य स्तव है।
यह सार फलित होता है।

इस लक्षण मे—
"भाव-स्तव के जो हेतु भूत" यह विशेष्य पद है, उस को रखने का प्रयोजन यह है कि–भाव-स्तव मे अति व्याप्ति न हो।
अर्थात्—
द्रव्य स्तव का लक्षण भाव स्तव मे न चला जाय। किन्तु उस विशेष्य पद को रखने से भाव-स्तव मे द्रव्य-स्तव का लक्षण चला जा सकता नही।
प्रथम के दो विशेषण जो हे, वे भाव स्तव मे रही हुई जो कार्यता उसकी हेतुता जो द्रव्य स्तव मे रही हे, उस हेतुता के स्वच्छेदक धर्म-बनते है।
अर्थात्—
जो अनुष्ठान—
१ आज्ञा सिद्ध न हो और,
२ वीतराग-गामि न हो, वह अनुष्ठान
भाव स्तव का हेतु हो सकता ही नही।
आज्ञा सिद्धपना और वीतरागगामिपना ही यहा हेतुता का अवच्छेदक बनता है।
वास्तविकतया देखा जाय तो—
"भाव स्तव को हेतु ही द्रव्य स्तव का लक्षण ठीक बनता है। इस विषय को यह निम्नोक्त गाथा कुछ विशेष स्पष्ट करती है —

"ज पुण एय वियत्ता एग ऽतेणेत्र भाव सुण्ण ति।
त " विसयम्मि वि ण तओ भाव त्थया ऽ-हेउओ उचिओ ॥३८॥
पञ्चा० ६-९ ॥

"जो अनुष्ठापन—
औचित्यादि से रहित हो, (जिस अनुष्ठान मे औचित्य न हो,)

वह अनुष्ठान—

एकान्त से ही

भाव शून्य होता है,

(क्योंकि—वह आज्ञा से निरपेक्ष-आज्ञा से रहित-होता है।

'वीतराग-गामि" होने पर भी, वह द्रव्य-स्तव नहीं बन सकता है।

क्योंकि—वह भाव-स्तव का हेतु नहीं है, क्योंकि— वह उचित नहीं है,-आज्ञा सिद्ध नहीं है। ३८॥

विशेषार्थ

ऐसा (भाव-शून्य—भाव स्तव के कारण भूत न बन सके ऐसा जो द्रव्य स्तव हो, उसको—अप्रधान द्रव्य स्तव कह सकते हैं। (जो भाव स्तव का अंग बन सकता नहीं) ॥ ३८ ॥

(इसकी विशेष स्पष्टता आगे स्वतंत्र प्रबन्ध से की जायगी) ३८

शास्त्र में—

१ "द्रव्य" शब्द प्रधान "अर्थ में"

और

२ "अप्रधान" अर्थ में भी प्रयुक्त होता है,

अप्रधान=निकम्मा, अनुपयोगी, अधिकृत प्रयोजन रहित।

इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(मुख्य फल न मिले, और)

आनुषंगिक फल मिले, वह तो उचित नहीं है,-यह समझाया जाता है,-

भोगा ऽऽइ फल विसेसो उ अत्थि एत्तो वि विसय-भेएणं, ।
तुच्छो य तओ. जम्हा हवइ पगार-ऽ'तरेणाऽवि. ॥ ३९ ॥

॥ पञ्चा० ६-२५ ॥

1 "कीर्ति आदि जो आनुषंगिक फल मिलते है, वे अनुचित है।" इसका स्पष्ट कारण दिया जाता है।

द्रव्य स्तव से वीतराग सवधी कुछ प्रवृत्ति-विशेष द्वारा विशेष प्रकार के भोगादि सासारिक ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु वे तुच्छ-नगण्य है।

क्योकि— वे फल तो ज काम निजरादि और प्रकारो से भी प्राप्त होते हैं। ॥३९॥

‡ "द्रव्य स्तव मे भाव स्तव मे उचित अनुष्ठान पना की कौनसी विशेषता है ?"

‡ उस प्रश्न का उत्तर यहा दिया जाता है—

उचिया ऽणुट्ठाणाओ विचित्त-जइ जोग-तुल्लमो एस ।
ज ता कह दव्व-थवो ? तद्-दारेणऽप्प-भावाओ ॥४०॥

॥ पञ्चा० ६-१६ ॥

उचित अनुष्टानपना से यह द्रव्य स्तव भी शास्त्र विहित होने से, मुनियो के विचित्र (भाव-स्तव) योग के समान है।

"यदि एसा है, तो उसे भाव स्तव ही क्यो न कहा जाय ? और द्रव्य स्तव कैसे कहा जाय ?

उसका उत्तर,—

"भाव स्तव की अपेक्षा द्रव्य स्तव से अल्प भाव होता है, अर्थात्, उस हेतु से फल कम मिलता है ॥ ४० ॥

‡ "क्योकि—अधिकारी भेद से अल्प भाव होता है।"

यह समझाते हैं—

जिण-भवणाऽऽइ-विहाण दारेण एस होइ सुह जोगो ।
उचिया-ऽणुट्ठाण, चि य तुच्छो जइ-जोगओ णवर ॥ ४१ ॥

पञ्चा० ६-१७ ॥

जिन भवनादि बनवाने के द्वारा यह द्रव्य अनुष्ठान शुभ व्यापार है, और उचित उत्तम अनुष्टान भी है। तथापि—मुनि के योग से तुच्छ है अल्प है। ४१ ॥

विशेषार्थ

"मलीर आरम्भ को करने वाला गृहस्थ का द्रव्य स्तव शुभ योग होने पर भी,

मुनि का योग से वह बहुत ही अल्प है, और शुभयोग साधर्म्यसे समान भी है।" यह रहस्य है। ॥४१॥

‡ इस विषय में ओर भी रहस्य बताते हैं,—

सव्वत्थ णिर-ऽभिसंग-त्तणेण जइ-जोगमो महं होइ.।
एसो उ अभिसंगा कत्थइ तुच्छे वि तुच्छो उ.॥ ४२॥
॥ पञ्चा० ६-१८॥

‡ जीवन के सर्व प्रसंग में अनासक्तिपना होने से मुनि का योग बड़ा है। और द्रव्य स्तव आसक्ति युक्त आत्मा का होने से तुच्छ वस्तु में भी तुच्छ ही है। (इस कारण से वह अल्प है) ॥ ४२ ॥

जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ णियमओ चेव.।
तद्-दूसियस्स जोगो विस-घारिय-जोग-तुल्लो उ. ॥ ४३ ॥

‡ क्योंकि—आसक्ति आत्मा को स्वभाव से ही मलिन बना देती है। उस (आसक्ति) से दूषित आत्मा का योग विष से मिश्रित योग के समान है, अर्थात्-अशुद्ध होता है, ॥ ४३ ॥

जइणो अ-दूसियस्स हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स।
सुद्धो अ उवादेए, अ-कलंको सव्वहा सो उ. ॥ ४४ ॥
॥ पञ्चा० ६-२०॥

‡ हेय तत्वों से स्वभाव से ही सर्वथा निवृत्त एवं दूर रहने से, सामायिक भाव में स्थिर रहने से और उपादेय वस्तु में आज्ञा पूर्वक प्रवृत्ति करने से मुनि का योग निर्दोष-शुद्ध-होता है। उसी कारण से वह-यति योग-सर्वथा निष्कलंक होता है ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ

"सभी शुभयोग मात्र से जो जो छोटे बड़े फल मिलते हैं, उसके छोटे-बड़े पना का कारण-आसक्ति सहकृत शुभयोग, और अनासक्ति सहकृत शुभयोग होता है। इससे-शुद्धि और अ-शुद्धि में भेद घटता है।" यह न्याय का मार्ग है। ४४

‡ उदाहरण पूर्वक उन दोनों का उपर कहा गया स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

अ-सुह-तरंडुत्तरण-प्पाओ दव्व-त्थओऽ-मत्थो य.।
इयरो पुण पईमा-ऽऽइसु समत्थ [त्त] बाहु-त्तरण-कप्पो. ॥ ४५ ॥
॥ पञ्चा० ६-२१॥

‡ दोप सह-कृत होने से द्रव्द स्तव अशुभ एव काटे से युक्त शाल्मली आदि वृक्ष के तरापा से नदी आदि को पार करने के समान है।
और इस हेतु से वह मोक्ष देने में असमर्थ है। और, भाव स्तव समथ बाहु से नदी आदि को तैर जाने के समान है। इस हेतु से- उसे ही मोक्ष होता है ॥ ४५ ॥

कडुओ [अ-ओ] सहा ऽऽइ-जोगा मंथर-रोग-सम-सण्णिहो वा वि।
पढमो विणोसहेण तक्खय तुल्लो य बीओ ॥ ४६ ॥
॥ पञ्चा० ६-२२ ॥

‡ अथवा,
पहिला-द्रव्य स्तव, कटु औषधि आदि के योग से आस्ते से होने वाली रोग की उपशाति के समान है, और दूसरा (भाव स्तव) औषध के विना ही एव स्वबल से ही रोग का क्षय करने के समान है ॥ ४६ ॥

‡ अब, दोनो के अलग अलग फल बताये जाते हैं—

पढमा उ कुसल-बधो तस्स विवागेण सु गईमा-ऽऽईया।
तत्तो परपराए बिईओ वि हु होइ कालेण. ॥ ४७ ॥
॥ पञ्चा० ६-२३ ॥

पहिला द्रव्य-स्तव से सरागता का योग होने से कुशल बध अर्थात् पुण्य बन्ध होता है।
और इस कुशल बन्ध का विपाक से सु गति आदि एव सपत्ति, विवेक आदि की प्राप्ति होती है। उस द्रव्य स्तव के अभ्यास के बल से कालक्रम से दूसरा भाव स्तव भी प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

‡ और विशेष प्रकार से यह निम्नोक्त भी कहा जाता है,—

जिण बिंब-पइट्ठावण भाव-ऽज्जिय कम्म-परिणइ-वसेण।
सु-गइअ पइट्ठावणमऽण ऽघ सइ अप्पणो जम्हा ॥ ४८ ॥
॥ पञ्चा० ७ ४५ ॥

‡ क्योंकि—
जिन प्रतिमाजी महाराज को प्रतिष्ठा कराने की जो भावना, उस उपार्जित किये हुए (शुभ) कर्म परिणाम के बल से-अर्थात्-और भी बहुत कारण-सामग्री

मिलने से आत्मा की सु-गति में सदा पवित्र प्रतिष्ठापना होती है॥ ४८॥

‡ ओर भी विशेष कहा जाता है, कि—

तत्थ-ऽवि य साहु-दंसण-भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ गुण-रागो. ।
काले य साहु-दंसण जह-क्कमेण गुण-करं तु. ॥ ४९॥
॥ पञ्चा० ७ ४६ ॥

ओर -सुगति में भी साधु पुरुषों का दर्शन की भावना से जो कर्म उपार्जित होते हैं, उसे गुणों का राग उत्पन्न होता है। और कालान्तर में साधु महात्माओं का दर्शन होता है। उस कारण से—उसी क्रम से वह भी लाभ का कारणभूत होता है ॥ ४९ ॥

"पडिवुज्झिस्संतऽण्णे" भाव-ऽज्जिय-कम्मओ उ पडिवत्ती. ।
भाव-चरणस्स जायइ. एअं चिय संजमो सुद्धो. ॥ ५० ॥
॥ पञ्चा० ७-४७ ॥

‡ "इस मंदिर में आ कर जिन प्रतिमा जी के दर्शन से अनेक आत्माये प्रतिबोध पायेगी." इस प्रकार का जो भाव रहा था, उससे बन्धा हुआ कर्म के बल से मोक्ष का अपूर्व हेतु रूप भाव चारित्र की प्राप्ति होती है। यही भाव चारित्र रूप ही शुद्ध संयम है ॥५०॥

भाव-त्थओ अ एसो थोअव्वोचिय प्पवत्तिओ णेओ. ।
णिर-ऽवेक्खा-ऽऽणा-करणं कय-किच्चे हंदि उचियं तु. ॥ ५१ ॥

‡ स्तुति करने के योग्य के प्रति प्रवृत्ति रूप होने से शुद्ध संयम को ही भाव-स्तव समझना चाहिये। कृत-कृत्यों के प्रति-एवं स्तुति योग्य के प्रति-निरपेक्षपना से आज्ञा का पालन करना ही उचित है, और कुछ भी उचित नहीं है। क्योंकि—सांसारिक-भाव के प्रति निरपेक्ष भाव उसे प्राप्त हुआ करता है ॥ ५१ ॥

एअं च भाव-साहुं [हू] विहाय, नऽण्णो चएइ काउं जं [जे]।
सम्मं तग्गुण-नाणा-ऽ-भावा तह कम्म-दोसा य. ॥ ५२ ॥
॥ पञ्चा० ६-२५ ॥

‡ इस प्रकार, आज्ञा का पालन करने का कर्तव्य साधु को छोड़कर, दूसरा कोई पामर आत्मा अच्छी तरह से कर पाता नहीं। क्योंकि—उस आज्ञा का पालन

से जो लाभ होता है, उसे वह अज्ञात स्थिति मे रहता हे। और चारित्र मोहनीय कर्म का उदय से भी वह उसको अच्छी तरह से कर सकता नहीं॥५२

विशेषार्थ

इस प्रकार, आज्ञा का पालन करने के लाभो का ज्ञान न होने से, आज्ञाका पालन करने पर भी "रत्न परिक्षा" का न्याय की तरह, बुद्धि को लगाने की आवश्यकता रहती हे। (जिस तरह रत्न परीक्षा करने का सिखने वाले को सदैव रत्न परीक्षा करने का अभ्यास करना पडता है, और जो बुद्धिमान् होता हे-पारगत होने की बुद्धि रखता हे-वही रत्न परीक्षा मे पारगत हो सकता है। तथा प्रकार की बुद्धि के सिवाय रत्न परीक्षा मे प्रवीण होना मुश्किल है नही हो सकता हे। ५२॥

† "आज्ञा का पालन इतना मुश्किल क्यो हे?"

इसका कारण कहा जाता है,—

जं एअं अट्ठा-रस-सील ऽ ग-सहस्स पालण णेयं।
अच्च ऽ त भाव-सार ताइ पुण हुंति एआइ- ॥ ५३ ॥

क्योंकि-यह अधिकृत आज्ञा का पालन अत्यन्त भाव सार रूप-अट्ठा रह सहस्र शीलांगो का पालन रूप समझना चाहिये। वे शीलांग बताये जाते ह। ये शीलांग इस प्रकार है, ॥ ५३ ॥

शीलांगो का स्वरूप

जोग करणे सण्णा इंदिअ-भोमा ऽऽइ समण-धम्मे य।
सील ऽ ग सहस्साण अट्ठा रसगस्स णिप्फत्ती ॥ ५४ ॥

पञ्चा० १४-३ ॥

मन आदि का व्यापार— (३)
मन आदि करण— (३)
आहार की इच्छा आदि सज्ञाए — (४)
स्पर्शन आदि इन्द्रिया— (५)

भूमि आदि-पृथ्वीकाय, अप्काय, तेज काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय ते इन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, और अजीव। (१०)
और क्षमा आदि श्रमण धर्म (१०)

यह सब मिलकर अट्ठारह हजार भेदों बन जाते है, जो चारित्र के कारण है।
३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = (१८०००) गाथा का अर्थ ॥ ५४ ॥

करणा-ऽऽइ तिण्णि, जोगा मणमा-ऽऽईणि उ हुंति करणाइं. ।
आहारा-ऽऽई सण्णा, सवणा [सोत्ता] -ऽऽइं इंदिया पंच, ॥ ५५ ॥
भोमा-ऽऽइ णव अ-जीव-काओ अ, पुत्थ-पणगं च, ।
खंता-ऽऽइ-समण धम्मो. एवं सइ भावणा एसा– ॥ ५६ ॥
पञ्चा० १४-१५ ॥

यह दोनों गाथा का अर्थ स्पष्ट ही है.
[करण आदि तिन–स्वयं किया गया हो, अन्य से कराया गया हो, और अनुमत किया गया हो (२)
मन आदि तिन योग - मन वचन और काया रूप तिन साधन (३)
आहारादि संज्ञाएं—आहार-भय-मैथुन-परिग्रह (४)
श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियां—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः- श्रोत्र (५)
उत्तरोत्तर "सीलांग गुणों की प्राप्ति से शीलांग प्राप्त होते है" यह बताने के लिए इन्द्रियों का पश्चात् क्रम बताया गया है।"
भूमि आदि नव—पृथ्वीकाय्-अप्काय, तेजः काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रीय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, पन्चेंद्रिय, (९)
और पुस्तकादि पञ्चक अजीव काय–
पुस्तक, चर्म, तृण, सुषिर, ...रूप (९ + १ = १०)
क्षमा आदि दश श्रमण धर्म–क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति-निर्लोभता, तपः, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता, ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पूर्वक-गुरु कुलवास में रहना (१०)
इस प्रकार के अट्ठारह हजार शीलांग की घटना इस प्रकार है ।५६॥

[भोमा-ऽऽइ-णव जीवा, अ-जीव-काओ य समण धम्मो उ ।
खंता-ऽऽइ-दस-पगारो, एवं ठीए भावणा एसा, ॥ ५७ ॥

भूमि आदि नव जीवकाय और अजीवकाय. क्षमादि दश प्रकार के श्रमण धर्म, इस प्रकार होने से शीलांगों की घटना निम्न प्रकार से होती है ।।५६।।]

‡ घटना इस प्रकार से की जाती है —

ण करेइ मणेणा-ऽऽहार सण्णा विप्पजढगो उ णियमेणं ।
सोइंदिय सवुडा पुढवी-काय आरम्भ खंति-जुआ ॥ ५७ ॥
पञ्चा० १४-६ ॥

न करना,
मन से,
आहार सज्ञा का नियम से त्याग कर, श्रोत्र इन्द्रिय का सवरण करके,
पृथ्वी काय का आरभ,
क्षमा से युक्त होकर, ॥५७।

इय मद्दवा ऽऽइ जोगा पुढवी-काये हवंति दस भेया ।
आउ-काया ऽऽईसु वि इय ए ए पिंडिय तु सय ॥ ५८ ॥
पञ्चा० १४-७॥

इस प्रकार मार्दवादि श्रमण धर्म से युक्त होकर, पृथ्वीकाय का आरभ का त्याग करने का दश भग होता है।
इस प्रकार अप्कायादि से घटना करनी । इस प्रकार सब मिलाकर एक सो भग होते है ॥ ५८ ॥

सोइ [अ-इं] दियेण एअ, सेसेहिं वि ज इम, तओ पंच ।
आहार-सण्ण-जोगा इय, सेसाहिं, सहस्स दुग. ॥ ५९ ॥
पञ्चा० १४ ८ ॥

इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय से (१००) भग हुए, इस प्रकार–ऐसे ही सो सो भग शेष इन्द्रियो से करने से पांच सो होता हैं।
ये आहार सज्ञा का त्याग से (५००) हुए, और भय आदि सज्ञा का त्याग से दो हजार भग होते हैं।

एअं मणेण वयमा-ऽऽठएसु एअ ति, छ-स्सहस्साइं।
ण करण, सेसेहि पि य, ए ए, सव्वेवि अट्ठारा. ॥ ६० ॥
पञ्चा० १४ ९ ॥

इस प्रकार मन से (२०००) भग हुए।
इस प्रकार वचन और काया से मिलाकर छ जार भग न करने के हुए।

और न कराने का, न अनुमोदना करने का. सब मिलाकर अट्ठारह सहस्र हुए ॥ ६० ॥

स्पष्टार्थ

१ आहार सञ्ज्ञाका २ मन से त्याग कर ३ क्षमा युक्त होकर ४ श्रोत्र इन्द्रिय से ५ पृथ्वीकाय का आरंभ ६ न करना इस प्रकार एक भंग हुआ।

मार्दवादि दश श्रमण धर्म से भंग १०

अप्काय आदि दश का आरंभ न करना—	×१० १००
श्रोत्र इन्द्रिय से भंग—	१००
सभी इन्द्रियों से--	×५ ५००
और सभी संज्ञा का त्याग से—	×४ २०००
वचन और काय योग के भंग मिलाकर—	×३ ६०००
न करना, और न कराना, न अनुमोदित करने का, छ-छ हजार	
सब मिलाने से—	×३ १८०००

॥ ६० ॥

इत्थ इमं विण्णेयं अइदं-पज्जं तु बुद्धिमंतेहिं.।
एकम्मि वि सु-परिसुद्धं सील-ऽगं सेस-सब्भावे. ॥ ६१ ॥
पञ्चा० १४-१० ॥

† इस विषय में, बुद्धिमान पुरुषोंने, ऐदम्पर्य अर्थात्—रहस्य—यह समझने का है,—"सभी शीलांग होने पर ही एक शीलांग अवश्य परिशुद्ध हो सकता है। अर्थात्—उसको तब शीलांग कहा जाता है।

‡ यहां, बुद्धिमान् पुरुषों को रहस्यमय बात यह समझनी चाहिये, कि— "सर्व शीलांग होने पर ही एक शीलाङ्ग परिशुद्ध हो सकता है. अन्यथा, एक भी परिशुद्ध नहीं होता" ॥ ६१ ॥

† इस विषय में दृष्टांत बताया जाता है, कि—

इक्को घाऽऽय-पएसो अ-सखेअ-पएस सगओ जह उ,
एअपि तहा णय, स तत्त-याओ इयरहा उ ॥ ६२ ॥
पञ्चा० १४-११ ॥

जिस तरह, असख्य प्रदेशी एक ही अखड आत्मा है, एक भी प्रदेश की न्यूनता से आत्मा नहीं होता है, उसी तरह, एक भी शिलाग, अन्य सभी शीलाग के बिना एक भी शीलांग भूत-नहीं होता है।

यदि ऐसा न हो, और एक भी शीलाङ्ग केवल हो सके तो एक प्रदेश की आत्मा भी रह सके किन्तु, ऐसा सभवित नहीं एक प्रदेश का अभाव से आत्मा नहीं हो सकतो है, उसी तरह एक शील भी रह सकता कहीं ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ

"समुदायी यानि अखड पदार्थ-समुदाय पूर्वक ही अपना अस्तित्व रख सकता है।"

यह सिद्धात है। (कई ऐसे यत्र होते है, कि-यदि इस यत्र के अलग अलग विभागो की-अवयवों को ऐसी योजना रहती है, कि एक छोटा भी भाग हट जाय-निकल जाय-तो सारा यत्र काम के लिए असमर्थ हो जाता है) ॥६१॥

‡ उसकी ही स्पष्टता की जाती है,—

जम्हा समग्गमेयंपि सव्व-सा-ऽ-वज्ज-जोग-विरईओ ।
तत्तेणेग-स रूव ण खडु रूवत्तणमुवेइ ॥ ६३ ॥
पञ्चा० १४-१२ ॥

सर्व सावद्य योगो की सपूण विरति रूप जो अखण्ड धर्म है, उसका अस्तित्व एक भी शीलाग न रहने से बन सकता नहीं। क्योंकि एक भी शीलाग न रहने से-वह विरति नहीं रहने से, अर्थात्-सर्व सावद्य योगो की संपूर्ण सर्व-विरति नहीं रहती है, उसको सर्व सावद्य योगो की विरति नहीं कहा जा सकती है।

उसी कारण से-सर्व सावद्य योगो की विरति, स्वरूप से तत्त्व से-एक रूप ही है। अखड स्वरूप से ही सर्व सावद्य योग की विरति का स्वरूप को वह प्राप्त कर सकता है, अन्यथा, नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ६३ ॥

विशेषार्थ

उसी कारण से-उसका कोई भी अंग केवल-एक-पृथक्-शीलांगपना से रहता नहीं-संभवित होता नहीं ॥ ६३ ॥

‡ यहां प्रश्न किया जाता है, कि—

[श्री मुनिराज को] विहार में नदी को पार करना पड़ती है, तब जल-जीवों की हिंसा होती ही। वहां अखण्डितता किस तरह टिक सकती है? वहां, अखण्डितता अवश्य बाधित हो जाती है, तो सभी शिलाङ्ग चले जाने से श्रमण पना ही-सर्व सावद्य विरति ही किस तरह टीक सकती है?।

‡ उसका उत्तर,-

एअं च एत्थ एवं विरइ-भावं पडुच्च दट्ठव्वं, :— ।
ण उ बज्झंपि पवित्ति, जं सा भावं विणा वि भवे. ॥ ६४ ॥
पञ्चा० १४-१३ ॥

यहां पर, ऐसा समझना चाहिये, कि-
सर्व सावद्य की विरति रूप एक ही यह शील समझना चाहिये। अर्थात्-आंतरिक विरति भाव की अपेक्षा से-अखंड समझना चाहिये।
बाह्य प्रवृति की अपेक्षा से (अखंड) नहीं समझना चाहिये।
क्योंकि—बाह्य प्रवृत्ति आंतरिक भाव बिना भी संभवित हो सकती है।

इस कारण से—
मुनिराज को नदी को पार करना हो, उस प्रसंग में द्रव्य प्रवृत्ति से- बहार से-अप्काय जीवों की विराधना का आरंभ दोष का-संभव दिखाई देता है, तथापि-प्रमाद न होने से-भाव से-शीलाङ्ग का भंग नहीं होता है, किन्तु पालन ही होता है। अर्थात्-सभी शीलाङ्ग अखण्डित रहने से सर्व सावद्य योग की निवृत्ति रूप अखण्ड चारित्र रहता है।६४॥

‡ जिस तरह—

जह उस्सग्गम्मि ठिओ खित्तो उदगम्मि केण वि तवस्सी, ।
तव्-वह-पवित्त काओ अ-चलिअ-भावोऽ-पवत्तओ अ. ॥ ६५ ॥
पञ्चा० १४-१४ ॥

जिस तरह-कोई अबुध व्यक्ति अज्ञानता से, कायोत्सर्ग ध्यान मे स्थित कोई मुनिराज को उठाकर जलाशय मे फेंक देवे, उस समय उक्त मुनिराज का शरीर से पानी को धक्का लगे, और उससे अप्काय जीवों का वध-हो जाने की पूरी सभावना है,-होता है। तथापि-उस महात्मा का अहिसक भाव अचलित रहने से-वह स्वय-हिंसा मे प्रवृत्त नहीं होने से-शीलांग का खण्डन में प्रवृत्त नहीं है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ

क्योंकि-माध्यस्थ्य भाव को टीकाई रखने से-अखण्डितता टीक रहती है। स्व बुद्धि पूर्वक दोषयुक्त को गई प्रवृत्ति को ही दोषित प्रवृत्ति कहा जा सकती है।

श्री धर्मसागर उपाध्यायजी महाराज का जो मत है,—

"उस हिंसा मे - मध्यस्थ मुनिराज का कायादिक का योग कारण भूत नहीं है, किन्तु, जिसकी हिंसा होती है, उस (अप्काय जीव) का योग उसमे कारण भूत रहता है। उसी कारण से-मुनिराज का शील का भंग नहीं होता है।" यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि-उसमे अति प्रसग-अति व्याप्ति-दोष आता है। और—

"एगया गुण समीयस्स रीअतो काय-सफासं समणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंतित्ति।*

[श्री आचाराग सूत्र-सूत्र १५८, अ० ५, उद्दे० ४ पृ० २१०]

इस प्रकार के-आगम सूत्र से विरोध आता है। योग युक्त की काया का स्पर्श मे एक काय योग का ही व्यापार रहता है।

इस विषय को चर्चा का विस्तार दूसरे स्थान पर ग्रन्थान्तर मे-किया गया है (प्राय स्वोपज्ञ-धर्म परोक्षा वृति में (?)।

---

*इस सूत्र की वृति का भावार्थ —

एगया = कीसी समय पर

गुण समियस्स = गुणो मे युक्त अप्रमत्त मुनिराज को

रीयमाणस्स = सम्यग् अनुष्ठान में उपयुक्त रहने से—(अर्थात्-)

अति-क्रमण करने वाले की,
परिक्रमण करने वाले की,
(अंगो का) संकोच करने वाले की,
,, प्रसारण-फैलावा करने वाले की,
पीछे घुमने की प्रवृत्ति करने वाले की,
और-संपरिमार्जन- प्रमार्जन-करने वाले की, कीसी भी अवस्था में—
काय = शरीर,
तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः—
उसके स्पर्श को प्राप्त हुए,—शरीर के साथ का संयोग को प्राप्त हुए,-ऐसे संपातिम—आदि-जीवों-हो,

अर्थात्—अप्रमत्त मुनिराज की कीसी भी प्रवृत्ति से उन्हीं की काया की साथ संपातिम-उड़ने हुए जीवों-आदि जीव का संयोग हो जाय, और,—
उसमें से कोई परिताप को प्राप्त करे,
,, म्लान हो (करमा) जावे,

और मरण के पूर्व की स्थिति की प्राप्ति के विषय में तो-सूत्रकार भगवंत स्वयं सूत्र से ही बतलाते हैं, कि—
एगया पाणा उद्दायंति = प्राणों से वियुक्त हो जाय-मरण प्राप्त कर ले,
इस विषय में कर्म के बंध में विचित्रता रहती है, उस की समझ इस प्रकार है,—
१ शैलेशी अवस्था में—मच्छर आदि के साथ काया का संस्पर्श से प्राण का त्याग हो जावे, वह मर भी जावे, तो भी, कर्म का बन्ध होता नहीं, क्योंकि-कर्म बन्ध के उपादान कारण रूप योग नहीं रहता है।

(२-३-४) उपशान्त और क्षीण-मोही, तथा सयोगी केवल ज्ञानी भगवंतो को-एक समय का-कर्म का बन्ध होता है, क्योंकि-स्थिति बन्ध के योग्य-अध्यवसाय-उन्हीं को न होने से, स्थिति का बन्ध होता नहीं, (मात्र प्रदेश बन्ध ही होता है, जो उसी समय में निवृत्त हो जाता है।)
(५) अप्रमत्त मुनिराज को—
जघन्य से—अन्तमुहूर्त प्रमाण-स्थिति होती है, और
उत्कृष्ट से—अंतः कोटा कोटि (वर्षों) की स्थिति प्रमाण बन्ध होता है।

(६) प्रमत्त योग में रहे हुए आत्मा को—
अनाकुट्टिक पना से-स्वयं सामने हो कर प्रवृत्ति न करने से- प्राणी का अवयव का संस्पर्श होने से-प्राणी को पीड़ा-आदि होने से—
१ जघन्य-कर्म बन्ध होता है, और उत्कृष्टता से-प्रथम का जो विशेष विशेष हो, वह बन्ध होता है।"

(परम पूज्य आचार्य महाराज श्री विजय धर्म सूरि महाराज श्री की कृपा से वृत्ति का भाग की प्राप्ति —सपादक)

"बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति न हो,–ऐसे दृष्टान्त मे, और बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति हो, ऐसे प्रसग मे भी–एव दोनो मे माध्यस्थ्य रूप एक ही हेतु रहता है ॥६५॥

‡ यह घटाकर बतलाया जाता है.—

एव चिय मज्झत्थो आणाइ उ कत्थइ पयट्ट तो ।
सेह गिलाणा-ऽऽइ ऽट्ठा, अ-पवत्तो चेव णायव्वो ॥६६॥

पश्चा० १४ १५ ॥

इस प्रकार, मध्यस्थ भाव रखकर, आज्ञा से किसी भी (सावद्य) प्रवृत्ति मे प्रवृत्ति की जावे-जैसी कि-नवीन शिष्य, रोगी मुनि आदि के पुष्टालम्बन पा कर, उसके लिए–महत्त्व के कारण विशेष मे (आज्ञा पूर्वक) कुछ भी प्रवृत्ति करनी पडे, तथापि, उस मुनि को अप्रवृत्त ही समझा जाता है।
ज्ञानादिक की प्राप्ति के लिए भी जो प्रवृत्ति की जावे, वह–उहार से आश्रव रूप दिखाई देने पर भी–परिश्रव (अनाश्रव-सवर-निर्जरा) रूप रहने से, सर्व सावद्य योग विरति की अखण्डितता मे क्षति आती ही नहीं ॥ ६६ ॥

आणा पर तंतो सो, सा पुण सव्व-ण्णु-वयणओ चेव. ।
एग ऽत-हिया विज्जग णाण्ण सव्व-जीवाणं. ॥ ६७ ॥

॥ पञ्चा० १४-१६ ॥

‡ इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले श्री मुनिराज, आज्ञा से परतन्त्र होकर प्रवृत्ति करते हैं, उसे वह सदोष नहीं होती है।

आज्ञा भी श्री सर्वज्ञ भगवत के वचन से ही की गई हो।
जिन आज्ञा तो एकान्त से ही सुवैद्य की तरह, सर्व जीवो के हितो को करने वाली रहती है ॥ ६७ ॥

विशेषार्थ

वह हित भी सर्व जीवो का होता है, क्योंकि–आज्ञा से होने वाला उपकार दृष्टि भी रहता है, और अदृष्ट भी रहता है। अर्थात्–वह उपकार देखने मे–आवे, न भी आवे। तथापि–अवश्य होता रहता है ॥ ६७ ॥

भावं विणा वि एव होइ पवित्तो ण बाहए एसा ।
सव्वत्थ अणा-ऽभिसगा वि रइ भाव सु-साहुस्स. ॥ ६८ ॥

॥ पञ्चा० १४ १७ ॥

‡ विरुद्ध भाव बिना जो प्रवृत्ति होती है, सर्वत्र अनासक्त भाव से की जानें वाली-ऐसी प्रवृत्ति—उत्तम साधु का विरति भाव की बाधक नहीं होती ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ

मोक्ष रूप उपेय, और उसके उपाय रूप शुद्ध चारित्र, उसकी इच्छा से रहित जो भाव, अर्थात् संसार की आसक्ति रूप जो भाव हो, वही कर्म बंध का कारण बनता है, किन्तु-अनासक्ति युक्त प्रवृत्ति कर्म के बंध का कारण भूत नहीं होती है। यह रहस्य है ॥ ६८ ॥

उस्सुत्ता पुण बाहइ स-मइ-विगप्प-सुद्धा वि नियमेणं. ।

गीय णिसिद्ध पवज्जण-रूवा णवरं णिरऽणुबंधा. ॥ ६९ ॥

पञ्चा० १४-१८ ॥

‡ स्वमति कल्पना से, "शुद्ध है" ऐसी समझ होने पर भी, जो प्रवृत्ति उत्सूत्र-सूत्राज्ञा से विरुद्ध हो,—वह तो विरति भाव को बाधा पहुंचाती ही है। वास्तव में—वही अशुद्ध ही होती है।

शास्त्र के वचन है, कि—

"सुंदर-बुद्धि कयं बहुयंपि ण सुंदरं होइ ॥"

[श्री उपदेश माला]

(मात्र) "सुंदर बुद्धि से किया हुआ कार्य बहु होने पर भी, सुंदर नहीं हो सकता है।"

और, गीतार्थ महापुरुषों ने जिस प्रवृत्ति को करने का निषेध किया हो, उसकी आज्ञा को मान्यकर उसको न करने से—उस प्रवृत्ति—आज्ञा पालन रूप-अनाग्रह बुद्धि से की जावे, तो कर्मबन्ध की परंपरा से रहित रहती है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ

एक वक्त भूल हो जाने पर, गीतार्थ गुरु की उसको न करने की आज्ञा हो जाय—निषेध किया जावे, तो उसका स्वीकार कर, पुनः ऐसी भूल न की जावे, तो कर्मबन्ध की परंपरा चलती नहीं। क्योंकि-ऐसा सरल आत्मा समझाने से

समझाने वाला रहता है, ऐसी उस की सरल और समझदारी रखने की प्रकृति रहती है, जिससे कर्म बन्ध का अनुबन्ध रहता नही ॥ ६९ ॥

इअरहा उ, अभिणिवेसा इयरा, ण य मूल-च्छिज्ज विरहेणं ।
होएसा एत्तोच्चिय पुव्वा ऽऽयरिया इम चाऽऽहु, — ॥ ७० ॥
पञ्चा० १४ १९ ॥

‡ दूसरी रीति से (विचार किया जावे, तो-)
गीतार्थो ने जिसका निषेध किया हो–जो कार्य करन की मनाई की हो,–उसको करे, अर्थात्–मनाई का स्वीकार न कर, उसको करे, अर्थात्–स्वाग्रह के वश वर्ती होकर,-मिथ्या आग्रह से उस कार्य किया जावे, तो वह प्रवृत्ति कर्म बन्ध की परपरा को चलाने वाली ही होती है।

क्योकि—ऐसी प्रवृत्ति ससार का मूल को उच्छिन्न करने वाला चारित्र गुण के अभाव बिना नही हो सकती है। अर्थात्–चारित्र पात्र यानि चारित्र गुण प्राप्त-आत्मा ऐसी प्रवृत्ति किसी भी हालत मे कर सकता नहीं है–उसे, वह नही ही हो सकती है।

निषिद्ध प्रवृत्ति भी स्वाग्रह से की जावे तो उस प्रवृत्ति को सानुबन्ध प्रवृत्ति कहा जाती है। क्योकि-उससे कर्म बन्ध की परपरा चलती है ॥७०॥

‡ इस कारण से ही श्री पूर्वाचार्य भगवतो ने निम्न प्रकार की व्यवस्था बतलाई है,—

"गीअ-ऽत्थो य विहारो, बीओ गीअ ऽत्थ मी(नि) सिओ भणिओ ।
इत्तो तइय विहारो णा-ऽणुण्णाओ जिण वरेहि ॥ ७१ ।
॥ पञ्चा० १४ २० ॥

गीतार्थ का जो विहार हे, वह एक है, क्योकि–गीतार्थ और उसकी प्रवृत्ति, उन दोनों का अभेद उपचार कर, दोनो को एक ही रूप से कहे गये हैं।

दूसरा–गीतार्थ निश्रित का विहार कहा गया है। गीतार्थ की आज्ञा मे रहा हुआ आत्मा का विहार–मुनि जीवन कहा गया है।

उन दोनों विहार से रहित तीसरा विहार (श्रामण्य) श्री जिनेश्वर देव ने फरमाया ही नहीं।

(यहां पर, विहार शब्द का अर्थ—जिस चर्या से साधु जीवन बना रहे, उस जीवन को समझना चाहिये ॥ ७१ ॥

‡ इस गाथा का भावार्थ समझाया जाता है—

गीअस्स ण उस्सुत्तो. तज्जुत्तस्सेयरस्स वि तहेव.

णियमेण चरणवं, जं, न जाउ आणं विलंघेइ. ॥ ७२ ॥

पञ्चा० १४-२१ ॥

श्री गीतार्थ की प्रवृत्ति उत्सूत्रप्रयुक्त नहीं रहती है. और गीतार्थ युक्त—यानि—गीतार्थ की आज्ञा में जो निष्ठ हो, उस दूसरा की भी प्रवृत्ति ऐसी ही रहती है। (अर्थात्—ससूत्र ही रहती है, उत्सूत्र रूप नहीं रहती है, आज्ञा युक्त रहती है।) क्योंकि—चारित्रवंत आत्मा आज्ञा का उल्लंघन कभी भी करता ही नहीं। क्योंकि—चारित्रवंत आत्मा अज्ञान और प्रमाद से रहित होता है, अर्थात्—ज्ञान और अप्रमाद से—जागरुक भाव से—युक्त रहता है। यह रहस्य है ॥७२॥

ण य गीअ-ऽत्थोअण्णं ण णिवारेइ जोग्गयं मुणेऊणं. ।

एवं दोण्हं वि चरणं परिसुद्धं, अण्णहा णेव. ॥ ७३ ॥

पञ्चा० १४-२२ ।

‡ अहित में प्रवृत्ति करने वाला अगीतार्थ-अजाण आत्मा को गीतार्थ गुरु अहित से रुकावट नहीं करते है, ऐसा नहीं, अहित से रुकते ही है, । क्योंकि—रोकने योग्य की योग्यता समझकर रुकावट की जाती है ।

और—वह आत्मा रुकावट का स्वीकार भी कर लेती है ।

इस कारण से दोनों का ही चारित्र सुपरिशुद्ध रहता है ॥ ७३ ॥

विशेषार्थः

१ एक—अहित मार्ग से-रुकावट करता है,

२ दूसरा—उसको मान्य कर लेता है,

जिससे—दोनों का चारित्र शुद्ध होता है ॥

जो ऐसा न करे, तो वे दोनों ही शुद्ध चारित्र रहित होते है ॥ ७३ ॥

‡ (उपसंहार-)

ता, एवं विरइ-भावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो ।

णियमेणं अट्ठा-रस-सील-ऽंग-सहस्स-रूवो उ. ॥ ७४ ॥

॥ पञ्चा० १४-२३ ॥

इसी कारण से—

इस स्थिति मे सपूर्ण विरति भाव को अवश्य होने का समझ लेना चाहिये। जो अठारह हजार शीलाग रूप है। समी पाप की विरति का परिणाम एक रूप होने से-वह भाव भी एक रूप ही है। यह रहस्य है ॥ ७४ ॥

उणत्त ण कयाइ वि इमाण, सख इम तु अहिगिच्च,
ज, एय धरा सुत्ते णिहिट्ठा वदणिज्जा उ ॥ ७५ ॥
पञ्चा० १४ २४ ॥

(इसी कारण से) सख्या की-अपेक्षा से शीलाङ्गो की न्यूनता कदापि भी हो सकती नहीं। उसी कारण से श्री [प्रतिक्रमण] सूत्र मे अठारह हजार शीलाङ्ग को धारण करने वाले श्री मुनिराज को वदन करने योग्य वतलाये है, (अन्य को (ऐसी) वन्दना नहीं की जाती है)

"अट्ठारस-सहस्स शील ऽ गधरा।"

(अड्ढाइज्जेसु० सूत्र आवश्यक सूत्र मे)

"अट्ठारह हजार शीलाङ्ग के धारक (मुनिवरो को वदना)" इत्यादि वचन के प्रमाण से-सूत्र मे वन्दना की गई है ॥ ७५ ॥

विशेपार्थ

यहा पर समझने का यह है, कि-कुच्छ अल्प अश मे एक आदि उत्तर गुण की न्यूनता होने पर भी, मूल गुणो की स्थिरता की अपेक्षा से, चारित्र शील की योग्यता से शीलागो की सख्या की पूर्ति समझने की है। प्रतिज्ञा के काल के अध्यवसाय स्थान को, और पीछे से अन्य काल के अध्यवसाय स्थान को-पट् स्थानक पतित होने पर भी, आगे कहा गया मुजब-
(आत्म प्रदेश के दृष्टान्त से-अखण्डितता) समानता घटती है।

और—

"सजम ठाण ठियाण किइकम्म वाहिरोण भइअव्वं।"

[ ]

"बाह्य सयम स्थानो से भेद मालूम पडने से वदना मे भजना रहती है, अर्थात्-न्यूनाधिक वन्दना,-वन्दना क्रम, आदि से वदना के भेद पडते हैं (?)"

इस प्रकार जो कहा गया है, वह भी उसी प्रकार से ही घटमान हो सकता है।

इस विषय का अधिक विस्तार हमारा रचा हुआ:-

गुरुतत्त्व विनिश्चय-ग्रन्थ में है।

अथवा—

"एक अंग की भी न्यूनता नहीं हो सकती है।" इत्यादि जो कहा गया है, उसको उत्सर्ग नियम का विषय समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ

("उत्सर्ग से-पूरा अठारह हजार अंग) होना चाहिये, अपवाद पद से- कुछ न्यूनाधिकता भी हो सके." यह भाव मालूम पड़ता है) ॥ ७५ ॥

‡ यह ही कहा जाता है—

ता, संसार-विरत्तो अण-ऽन्त-मरणा-ऽऽइ रूपमेअं तु ।
णाऊं, एअ-विउत्तं मोक्खं च गुरुवएसेणं. ॥ ७६ ॥

पञ्चा० १४-२५ ॥

परम-गुरुणो आणं[०णो अ अण ऽहे] आणाए गुणे, तहेव दोसे य, ।
मोक्ख-ऽत्थी पडिवज्जिअ भावेण इमं विसुद्धेणं ॥ ७७ ॥

पञ्चा० १४-२६ ॥

विहिया-ऽणुट्ठाण-परो, सत्त-ऽणुरूवमियरं पि संधंतो, ।
अन्नत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्म-दोसेऽवि, ॥ ७८ ॥

पञ्चा० १४-२७ .

सव्वत्थ-णिर-ऽभिसंगो, आणा मित्तम्मि सव्वहा जुत्तो ।,
एग-ऽग्ग-मणो धणियं, तम्मि तहाअ-मूढ-लक्खो य, ॥ ७९ ॥
तह, तेल्ल-पत्ति-धारग-णाय-गओ राहा-वेहग-गओ वा ।
एअं चएइ काऊं ण उ अण्णो खुद्द-सत्तो त्ति ॥ ८० ॥

पञ्चा १४-२८-२९ ॥

सपूर्ण शीलाङ्गो का पालन का यह कार्य अति दुष्कर कार्य है । इस हेतु से-शास्त्र के अनुसार गुरु के उपदेश मे-

१ (जन्म जरा) मरणादि रूप ससार को अनन्त समझ कर,

२ मरणादि से रहित मोक्ष को भी समझ कर, ।। ७६ ॥

३ परम गुरु श्री तीर्थ कर देव की उत्तम आज्ञा के गुणो को समझ कर ,

४ आज्ञा की विराधना के दोषो को समझ कर,

५ मोक्षार्थी हो कर,

६ विशुद्ध भाव से -उपर कहा गया शील का अच्छी तरह से—स्वीकार कर, ॥ ७७ ॥

७ शास्त्रोक्त विहित अनुष्ठानो मे शक्ति अनुसार तत्पर हो कर,

८ दूसरे जो-अनुष्ठान अशक्य है उनको भी भाव की प्रतिपत्ति से- एव-आतरिक भाव से-करने का अनुसधान रखता हो,

९ विहित अनुष्ठान शिवाय, दूसरे कार्यो में शक्ति का उपयोग न लगा कर ,

१० (आत्म विकास कर शील का पालन में) प्रतिबन्ध करने वालें कर्म दोषो को खपाने वाला ॥ ७८ ॥

११ सभी पदार्थो में आसक्ति रहित-मध्यस्थ,

१२ भगवत की सभी आज्ञाओ में सर्वथा लगा हुआ, वचन की आराधना में ही एक निष्ठा रखने वाला- ।

अर्थात्-मन में विस्रोतसिका-उत्थल पात्थल से-विरुद्ध भावो से- रहित होकर, उस आज्ञा में-जाग्रत् भाव के लक्ष्य-रखकर, मूढ भाव का लक्ष्य से रहित हो कर -तत्पर रहने वाला, ॥ ७९ ॥

१३ (आज्ञा में अतत्परता की-हानि समझकर) तैल पात्र के धारक के दृष्टात से, अथवा, राधावेध करने वाला का दृष्टात से, अप्रमत्त भाव में सदा सावधान हो ।

क्षुद्र चित्त वाला-निर्बल मन वाला-आत्मा इस प्रकार करने का अधिकारी

न होने से–इस प्रकार का शील का पालन करने में दूसरी आत्मा शक्ति नहीं रख सकती है।

विशेषार्थ

तैल पात्र धर को कथा, और राधावेध करने वाला की कथा प्रसिद्ध है—
॥१॥ राजा की आज्ञा का भंग करने वाला को देहान्त दंड की शिक्षा फरमाई गई, उससे बचने का मार्ग यह बतलाया गया, कि "यदि तैल से पूरा भरा हुआ दो पात्र अश्वारूढ होकर, दोनो हाथ में लेकर, नगरभर में फिराने पर भी, एक विन्दु भी, उसमें से न गिरे, तो तुम बच जायगा"।
अपराधी ने यह मंजूर किया, और उसी तरह नगर में घूमने लगा। स्थल स्थल पर उसको स्खलित करने के लिए--मन को आकर्षित करने वाले अद्भुत अद्भुत नाटकादि दृश्य स्थापित किये गये। अन्त में पूछा गया कि—"नाटक कैसे थे ?"

उसने कहा—"नाटकादिक क्या ? मैंने तो कुछ भी देखा नहीं।" उसको छुटकारा दिया गया।

यदि नाटकादि से आकर्षित हो जाता, तो एकाग्रता का भंग होने से–तैल का विन्दु भी गिरे तो, मरण सामने था। उसे बचने के लिए कितनी एकाग्रता रखी गई होगी ?।

उसी तरह--अप्रमत्त भाव से साधक मुनि जीवन का रहस्य बताया गया है।
॥२॥ "राधा-पूत्तली। उसका वेध-उसकी आंखों में बाण लगाकर उसको बींध देना, उसका नाम राधा-वेध। उसको करने वाले को भी पूर्ण एकाग्र होना पड़ता है।

क्योंकि–उस पुत्तली, उपर के एक शीघ्रगामी चक्र में फिरती रहती है। उसकी आंख भी चपला रहती है।

नीचे-उकलता हुआ तैल का वड़ा भारी कटाह-कडाया-रहता है। ऊपर तराजू और उस के दो छावड़े रहते हैं।

तराजू के दोनों छावडे में दोनों पांव रखकर, तैल की कडाह में दृष्टि कर

ऊपर बाण चलाकर, चक्र से फिरती पुत्तली की आख वींधी जावे, उसको राधावेध कहा जाता है।

कितना एकाग्र होना पडे ? सोचिये।

जरा भी चूक जावे, तो–तेल की कडाह में पड जावे, तराजू में दो पाऊ रख कर, समतुला न रख सके, तो भी पड जाने का, और लक्ष्य पर बाण को न लगने का भय रहता है, सब होने पर भी, फिरते चक्र में राधा को लक्ष्य बनानी पडे, फिर भी उसकी चपल आख की काली कीकी को वीधने का है। फिर भी, स्वमुख नीचा रखकर, भारी धनुष उठाकर बाण चलाने का रहता है, इस हालत में कितना एकाग्र होना पडे ? जरा भी चूक जाय, तो परिणाम क्या आवे ?

(सुने हुए दृष्टात की बाते लिखी गई है।)
अन्य ग्रन्थ से यथार्थ समझ लेवें —सम्पादक)

७६ ७७-७८-७९ ८०

‡ अब पूरा सार कहा जाता है,—

एत्तोच्चिय णिद्दिट्ठो पुव्वा-ऽऽयरिएहि 'भाव साहु'' त्ति।
हंदि पमाण ठिअ ऽत्थो त च पमाण इम होइ ॥ ८१ ॥

पञ्चा० १४-३० ॥

जिसका पालन करने का खूब कठिनतम कार्य है, इस कारण से—
श्री भद्रबाहु स्वामी आदि पूर्वाचार्य भगवतो ने भाव साधु को पारमार्थिक यति–मुनि बतलाया है।
और यह बात–प्रमाण भूत भी है।

‡ और वह प्रमाण (निम्न गाथा मे) इस प्रकार बताया जाता है ॥८१॥

सत्थुत्त गुणो साहू, ण सेस, इइ[ह] णे [णो] पइण्ण, इह हेउ-।
अ-गुणत्ता, इति णेओ दिट्ठ ऽन्तो पुण सुवण्णं च ॥ ८२ ॥

पञ्चा० १४-३१ ॥

"शास्त्र मे कहे हुए गुणो से युक्त को ही साधु कहा गया है, दूसरे को साधु नहीं कहा गया है। ऐसे दूसरे, शास्त्र से बाहर है।"

इस प्रकार की हमारी प्रतिज्ञा है।
दूसरे को सच्चा साधु न कहा जाय, उसमें कारण यह है कि—"वे गुण रहित है, ऐसा समझना चाहिये" अर्थात् साधु के योग्य गुणों से रहित वह रहता है। यहां, सुवर्ण का दृष्टांत समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

विशेषार्थ

यहां सुवर्ण का व्यतिरेक दृष्टांत है। सुवर्ण-सोना में जो गुण है, वे गुण जिस साधु में न हो, वह साधु नहीं ऐसा भाव है, अर्थात्-जिस में सुवर्ण के समान गुण हो, वही सच्चा साधु ॥ ८२ ॥

‡ सोने के गुण बताये जाते हैं—

विस-घाइ-रसा ऽऽयण-मंगल-ऽ त्थ-विणए पयाहिणा-ऽऽवत्ते ।
[ग] गुरुए अ-डज्झ-ऽकुत्थे अट्ठ सुवण्ण-गुणा हुँति. ॥ ८३ ॥
पञ्चा० १४-३२ ॥

सोना-१ विष को-झहर को-विनिष्ट करता है,
२ रसायण रूप है,
३ मंगलों के कार्य करने वाला है,
४ नम्र है-मृदु है, यथेच्छ वल सकता है,
५ अग्नि से गाला जावे, तब स्वभाव से ही दाहिनी ओर घूमता है (बांया नहीं घूमता है),
६ सारभूत होने से-गुरु है- भारी है.
७ वह भस्म रूप न होने से—अदाह्य है,
८ कभी भी वह सड़ता नहीं।

। सोने में इस प्रकार के आठ मुख्य गुण है ॥ ८३ ॥

प्रस्तुत विषय में वे गुण घटायें जाते हैं,—

इह [अ] मोह -विसं घायइ, सिवोवऐसा रसा-ऽऽयणं होइ. ।
गुणओ अ मंगल-ऽत्थं कुणइ, विणीओ अ "जोग्गं" त्ति. ॥८४॥
मग्ग-ऽणुसारि पयाहिणं, गंभीरो गुरुअओ तहा होइ, ।
कोह-ऽग्गिणा अ-डज्झो. अ-कुत्थो सइ सील-भावेण. ॥ ८५ ॥
पञ्चा० १४-३३-३४ ।

(सुसाधु)—

१ कितने ही जीवो का मोह रूप विष का घात करते हैं- मोह को नष्ट करते हैं।

२ कितनेक जीवो को मोक्ष का उपदेश-देकर रसायन रूप बनते हे,

३ परिणत जीवो के लिए- मुख्य गुणो से मगल के कार्य करते हैं।

४ स्वभाव से ही योग्य होने से-विनयशील होते है ॥ ८४ ॥

५ सत् मार्ग के अनुसरण रूप प्रदक्षिणावर्त-करते हैं-दाहिनी ओर घूमते ह, उन्मार्ग मे-वाम मार्ग मे-नही घूमता है,

६ गभीरता गुण से गुरु है, गौरव युक्त है, गौरव पात्र है।

७ क्रोध रूप अग्नि से कभी भी दग्ध नही होते है।

८ और उचित शील को सदा धारण कर रखने से बिगडता नही- सडता नही, ताजा ही- प्रसन्न ही पवित्र ही रहता है ॥ ८५ ॥

एव दिट्ठ-ऽ त-गुणा सज्झम्मि वि एत्थ होति णायव्वा ।
ण हि साहम्मा ऽ-भावे पाय ज होइ दिट्ठ-ऽन्तो ॥ ८६ ॥
पञ्चा० १४ ११ ॥

विष घाति आदि सोने के जो गुण कह गये, वे साध्य रूप साधु मे भी होते हे, यह समझ लेना।

क्योकि-साधर्म्य के- अभाव में प्राय दृष्टान्त बनता ही नहीं। (यहा, दोनो के समान धर्म है ही) ॥ ८६ ॥

चउ-कारण-परिसुद्ध कस-छेअ-ताव तालणाए अ ।
ज, ज विस घाइ-रसा ऽऽयणा-ऽऽइ गुण-सजुअ होइ ॥ ८७ ॥
इयरम्मि कसा ऽऽइआ विसिट्ठ लेसा, तहेग सारत्त, ।
अवगारिणि अणुकपा वसणे अइ-णिच्चल चित्त ॥ ८८ ॥
पञ्चा० १४-३६ ३७॥

‡ यह सुसाधु और सोना भी, चार कारणो से शुद्ध होने का मालूम पडता है। चार कारण—

१ कष,　२ छेद　३ ताप　४ और—ताडन।

कषादि चार कारणों से की जाती परीक्षा में जो शुद्ध मालूम पड़ता रहे, वह सोना विषघाती-रसायपन आदि आठ गुणों से युक्त होता है ॥ ८७ ॥

उसी प्रकार-सुसाधु दार्ष्टान्तिक में—

अनुक्रम से कषादि चार इस प्रकार घटमान होते हैं—

१ उत्तम लेश्या-स्वभाव सौष्ठव रूप-कष परीक्षा है।

२ अपूर्व सारपना रूप-छेद परीक्षा है।

३ अपकार करने वालों पर भी-अनुकंपा-हित करने की बुद्धि-हो जाय, वह ताप परीक्षा है।

४ और कष्ट परंपरा में मन की स्थिति क्षोभ रहित हो-स्थिर हो, वह ताडन परीक्षा है ॥ ८८ ॥

तं कसिण-गुणोवेअं होइ सु-वण्णं, न सेसयं, जुत्ती. ।
ण वि णाम-रूव-मित्तेण एवमऽ-गुणो हवइ साहू. ॥ ८९ ॥

॥ पञ्चा० १४-३८ ॥

1 उक्त सभी गुणों से युक्त हो, वही-सच्चा सोना होता है। और दूसरी तरह से-मिश्रण से-बनाया हुआ सच्चा सोना नहीं होता है। वह युक्ति सोना है। उस प्रकार से-जो गुण रहित होते हुए भी, बाह्य नाम और रूप मात्र से सच्चा साधु नहीं होता है ॥ ८९ ॥

जुत्ती सु-वण्णयं पुण सु-वण्ण-वण्णं तु जइ वि कीरिज्जा. ।
ण हु होइ तं सु-वण्णं सेसेहिं गुणेहिं अ-संतेहिं. ॥ ९० ॥

पञ्चा० १४-३९ ॥

मिश्रण कर युक्ति से बनाया हुआ कृत्रिम सोना सच्चा सोना नहीं होता है,

क्योंकि-किसी न किसी हालत से वह सोने का पीला रंग धारण कर लेता है, किन्तु-विषघाति आदि शेष सभी गुण नहीं होते हैं ॥ ९० ॥

‡ अब चली आती मूल बात पर ग्रन्थकार श्री आते हैं—

जे इह सुत्ते भणिया साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहू. ।
वण्णेणं जच्च-सु-वण्णयं व-संते गुण-निहिम्मि. ॥ ९१ ॥

पञ्चा० १४-४० ॥

इस शास्त्र मे जो जो मूल गुण कहे गये है, उनको धारण करने से सच्चा साधु हो सकता हे ।

मात्रबाह्य वर्ण होने पर भी विषघाति आदि गुणोंके भंडार हो, तो वह सच्चा सोना और सच्चा साधु होता हे ॥ ९१ ॥

‡ [दृष्टान्त घटाया जाता हे–]

जो साहू गुण रहिओ भिक्खं हिंडइ, [ण होइ] कह णु सो साहू ? ।
वण्णेण जुत्ति–सु-वण्णय वाऽ-सते गुण-निहिम्मि ॥ ९२ ॥
पञ्चा० १४-४१ ॥

उद्दिट्ठ कड भुंजइ छक्काय पमद्दणो, घरं कुणइ, ।
पच्चक्खं च जलगए जो पिवइ, कह णु सो [साहू ?] भिक्खुसाहू ॥९३॥
पञ्चा० १४-४२ ॥

गुणों से रहित होने पर भी जो साधु भिक्षा लेने के लिए जावे, वह सच्चा साधु किस तरह हो सकता हे ?

जिस तरह, मात्र रंग से पीला हो, तथापि-विषघाति पना आदि गुणो से रहित हो, ऐसा सोना सच्चा सोना नहीं होता है, मिलावट से वह बनाया हुवा रहता है ॥ ९१ ॥

खास जान बूझ कर (आकुट्टिका से) वह औद्देशिक आहार करता है, बेदरकारी से छ जीव निकाय का मर्दन करे–हिंसा करे, देव के गृह के बहाना से अपने के लिए गृह बना लेवे, और (आकुट्टिका से) जंतु से पूर्ण (सचित्त) पानी पीता है, वह साधु किस तरह माना जाय ? उसको साधु नहीं माना जा सकता ॥ ९३ ॥

अन्ने उ–कसाऽऽइआ किर एएऽत्थ हुंति णायव्वा, ।
एयाहिं परिक्खाहिं साहु-परिक्खेह कायव्वा ॥ ९४ ॥
पञ्चा० १४-४३ ॥

अन्य आचार्य महाराजाओ का कथन यह है, कि—

"प्रथम जो कप छेद आदि से चार प्रकार परीक्षा बतलाई है,–वे औद्देशिक

आहार करना-इत्यादि उपरोक्त चार दोष रहितपना साधु के अधिकार में समझ लेना चाहिये।" इस प्रकार सचोट परीक्षा से साधु की परीक्षा करने का होता है ॥ ९४ ॥

विशेषार्थ

दूसरे आचार्य महाराजाओं का अभिप्राय भेद यह है, कि—

१ **कष परीक्षा**—जान बूझकर उद्दिष्ट आहार न करे,

२ **छेद परीक्षा**—षट्काय का प्रमाद से-निरपेक्षतया-मर्दन न करे,

३ **ताप परीक्षा**—देव के बहाना से अपना घर न करे,

४ **ताडन परीक्षा**—किसी भी हालत में सचित्त जल का पान न करे। साधु की परीक्षा के लिए—यह भाव-सार [उच्चकक्षा की] परीक्षा है। अर्थात्—साधु के योग्य सारभूत योग्यता की परीक्षा के यह सचोट साधन है, उसे साधु की परीक्षा हो सकती है।

बहार से समानता दिखाई देने से—"सु साधु है ? या कुसाधु ?" ऐसा संशय पड़ जाय, तो उसे दूर करने के लिए क्या किया जाय ?

१ शुद्ध आचार को देखकर—शुद्ध साधुपना मानकर प्रथम तया-अभ्युत्थान वन्दना आदि-की जावे।

२ परंतु-आगे के लिए कैसा वर्ताव करना ? यह परीक्षा के बाद जो समझ में आवे, ऐसा बर्ताव करना चाहिये।

सुसाधु मालुम पड़े, तो तदुचित, और कुसाधु मालूम पड़े, तो तदुचित बर्ताव करना चाहिये।

इस—शास्त्र चर्चा का यह सार है। यह दिशा सूचन मात्र ही है ॥९४॥

‡ उपसंहार किया जाता है—

तम्हा, जे इह सत्थे साहु-गुणा, तेहिं होइ सो साहू.।
"अच्च-ऽन्त-सु परिसुद्धेहिं मोक्ख सिद्धि" त्ति काऊणं ॥ ९५ ॥
पञ्चा० १४-४४ ॥

इस कारण से—

इस शास्त्र में—

प्रतिदिन की क्रिया स्वरूप साधु के जो जो गुण कहे गये हैं, उन-अत्यन्त

सुपरिशुद्ध गुणो से ही (शुद्ध) भाव साधु ही होता है
क्योकि-ऐसे-उपधा [कसौटियो से] शुद्ध गुणो से ही मोक्ष की सिद्धि प्राप्त होती है।
अन्यथा-(भाव साधुपना विना-मात्र (अप्रधान) द्रव्य रुप साधुपना से मोक्ष की प्राप्ति नही होती है।
शुद्ध भाव साधुपना विना शुद्ध चारित्र और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ९५ ॥

॥ सु साधु-और सुवर्ण का दृष्टान्त का विचार पूरा ॥

‡ (द्रव्य स्तव से भावस्तव की प्राप्ति होती है। इस प्रसग में भाव स्तव का स्वरुप विस्तार मे बताया गया, और द्रव्य स्तव और भाव स्तव का जो भेद बताया जा रहा था, उस विषय को आगे चलाया जाता है।)

अलमित्थ पसगेण, एव खलु होइ भाव चरण तु।
"पडिवुज्झिस्सतऽण्णे" भाव-ऽज्जिय कम्म जोएण ।९६॥

(प्रमाण पूर्वक भाव स्तव के विषय मे जो कहा जाता था–) वह प्रसग समाप्त किया जाता है। जिस का स्वरुप ऊपर बताया गया है, उस प्रकार का भाव चारित्र होता है।
उस को भाव चारित्र क्यो कहा जाता है ?
"जिसका आलबन से दूसरे अनेक जीवात्माए प्रतिबोध पायेंगे," ऐसा जिनायतन कराना आदि द्रव्य स्तव से शुभ भाव पूर्वक बान्धा गया जो शुभ कर्म,-उस शुभ कर्म से– आगे जाकर भावस्तव रुप भाव चारित्र की प्राप्ति होती है, जो मोक्ष को देने वाला होता है। इस कारण से द्रव्यस्तव को भाव चारित्र का कारण कहा जाता है। यह रहस्य है ॥ ९६ ॥

अ-पडिवडिय सुह-चिंता-भाव-ऽज्जिय कम्म परिणइए उ ।
एअस्स जाइ अत, तओ सो आराहण लहइ ॥ ९७ ॥
पञ्चाशक ७ ४८ ॥

अस्खलित शुभ विचारणा-आशय अध्यवसाय रुप भाव से उपार्जित किये गये कर्म (के उदय के सहयोग) से जो जिनायतन वनवाने की परिणति होती है, उसके

बल से वह आत्मा चारित्र का अन्त तक पहुँच जाता है, उसी कारण से, वह आत्मा (द्रव्य स्तव से भी)–शुद्ध आराधना को प्राप्त कर सकता है ॥ ९७ ॥

‡ यही कहा जाता है,—

णिच्छय-नया जमेसा चरण पडिवत्ति-समयओ पभिई ।

आ मरण-ऽंतमऽ[ज]वस्सं संजम-परिपालणं विहिणा. ॥ ९८ ॥

निश्चय नय के मत से तो–इस आराधना–चारित्र का स्वीकार करने का समय से लेकर, मरण पर्यन्त निरंतर विधि पूर्वक संयम का परिपालन करना ही क्योंकि- निश्चयनयके मत से यह ही आराधना है ॥ ९८ ॥

आराहगो य जीवो-सत्त-ऽट्ठ भवेहिं सिज्झइ णियमा ।

संपाविऊण परमं हंदि अह-क्खाय-चारित्तं. ॥ ९९ ॥

इस प्रकार से आराधना करने वाला–आराधक जीव (परमार्थ से) सात आठ भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

किस तरह मोक्ष प्राप्त करता है ?

कषाय के उदय से सर्वथा रहित उत्तम यथा-ख्यात चारित्र को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९९ ॥

दव्व-त्थय-भाव-त्थय-रूवं एअमिह होइ दट्ठव्वं,- ।

अण्णुण्ण-समणुविद्धं णिच्छयओ भणिय-विसयं तु ॥ १०० ॥

पञ्चाशक ६-२३ ॥

‡ इस प्रकार से—

द्रव्य स्तव का और भाव स्तव का स्वरूप यहां ठीक रूप से इस प्रकार समझ लेना चाहिये, कि—

गौण रूप से और प्रधान रूप से प्रत्येक परस्पर में गुंथा हुआ रहता है। क्योंकि–दोनों ही–श्री अरिहंत भगवंत की साथ संवंध रखने वाले हैं। १००॥

विशेषार्थ

द्रव्य-स्तव और भाव स्तव दोनों ही श्री अरिहंत प्रभु के साथ संवध रखने वाले हैं, तथापि–दोनों के स्वरूप में भेद भी है, जिस तरह– १ पुष्प पूजा रूप–अंग-पूजा, आमीष-नैवेद्य पूजा रूप-अग्र पूजा, स्तुति रूप-भाव पूजा और प्रभुनी

आज्ञा का विशिष्ट प्रकार से पालन रूप देश विरति और सर्वविरति का पालन रूप प्रतिपत्ति पूजा। उन चारो पूजा श्री अरिहंत प्रभु की भक्ति रूप होने से भी उत्तरोत्तर मे प्राधान्य-मुख्यता-विशिष्टता रखती है। अर्थात्-अंग पूजा से अग्र पूजा श्रेष्ठ है, अग्र पूजा से भाव पूजा श्रेष्ठ है, भाव पूजा से प्रतिपत्ति पूजा श्रेष्ठ है। उसी तरह द्रव्य स्तव भाव स्तव मे भी परस्पर के संबन्ध समझना चाहिये ॥१००॥

"जइणो वि हु दव्व त्थय-भेओ अणुमोयणेण अत्थि"-त्ति।
एअं च इत्थ णेयं इय सि [सु]द्धं तंत-जुत्तीए ॥ १०१ ॥
पञ्चा० ६ २८ ॥

१ मुनिराज को भी अनुमोदना द्वारा द्रव्य-स्तव के लेश भाग का मिश्रण रहता है। और अनुमोदना शास्त्र युक्ति से भी इस प्रकार सिद्ध [शुद्ध] होती समझनी चाहिये,- ॥ १०१ ॥

(वह अनुमोदना रूप द्रव्य स्तव का लेश, किस प्रकार है ? वह शास्त्र प्रमाण से बताया जाता है,-)

तंतम्मि वंदणाए पूअण-सक्कार-हेऊ उस्सग्गो।
जइणो वि हु णिद्दिट्ठो ते पुण दव्व त्थय स-रूवे ॥ १०२ ॥
॥ पञ्चा० ६-२९ ॥

शास्त्र मे भी, चैत्य वन्दना के अनुष्ठान मे-पूजन निमित्तक और सत्कार निमित्तक कार्योत्सर्ग करने का है, सो मुनि को भी करने का बताया गया है।

'पूअण-वत्तियाए
सक्कार वत्तियाए"

(श्री अरिहंत-चेइयाणं नामक चैत्य स्तव सूत्र मे इस प्रकार पाठ है।)
पूजा और सत्कार यह दोनो द्रव्य स्तव रूप है। अन्य स्वरूप नही है। १०२॥

मल्ला ऽऽइएहि पूआ, सक्कारो पवर-वत्थमाईहिं।
अण्णे-विवज्जओ-इट्ट दुहा वि दव्व त्थओ इत्थ ॥ १०३ ॥
॥ पञ्चा० ६ ३० ॥

माला आदि से पूजा होती है, और उत्तम वस्त्रादि से सत्कार होता है।

दूसरे आचार्य महाराज-इस वचन में–विपर्य व उल्टी रीति से–फरमाते हैं, कि–"पूजा उत्तम वस्त्रादि से की जावे, और सत्कार माला आदि से किया जावे."

तथापि–दोनों मतों से–द्रव्य स्तव का ही तात्पर्य तो सिद्ध रहता है॥ १०३॥

इसमें ही दूसरी युक्ति भी वताई जाती है,—

ओसरणे बलिमाई ण चेव जं भगवया वि पडिसिद्धं. ।
ता, एस अणुण्णाओ उचिआणं गम्मइ तेण. ॥ १०४ ॥

॥ पञ्चा० ६-३१ ॥

(भगवंत के) समवसरण में बलि आदि (का वितरण) होता है, उसका श्री तीर्थंकर प्रभु ने भी निषेध किया ही नहीं है। इससे उस प्रकार का द्रव्य स्तव की आज्ञा श्री तीर्थंकर प्रभु की भी जव रहती है। अर्थात्-"जिस प्राणी को जो उचित घटित होता हो, उसको उस कार्य करने की-प्रभु की-अनुज्ञा रहती है," ऐसा जाना जाता है।

चेष्टा के समान मौन भी अनुज्ञा का सूचक हो सकता है। "प्रभु ने निषेध तो न किया, किन्तु मौन से अनुज्ञात भी किया।" ऐसा समझना चाहिये॥१०४॥

"ण य भयवं अणुजाणइ जोगं मोक्ख-वि-गुणं कयाचिदऽवि [दविण्णेयं]।
ण यऽणुगुणोऽवि तओ [जोगो] ण बहु मओ होइ अण्णेसिं? ॥१०५॥

पञ्चा० ६-३२ ॥

"मोक्ष से विरुद्ध किसी भी योग को भगवंत कदापि अनुज्ञात करते ही नहीं। क्योंकि–भगवंत मोह से रहित है।" इस कारण से– वह योग-प्रवृत्ति-भी मोक्ष के अनुकूल होने से नहीं है? और दूसरे को भी अत्यन्त मान्य करने के योग्य हो सकती है। बहुमान्य करने योग्य है ही। इस कारण से-वह भी द्रव्य स्तव रूप होने से, अर्थ से भी; अनुमति की कक्षा में शामिल रहती है। यह रहस्य है॥ १०५॥

‡ भगवंत तो भाव की ही अनुमोहना कर सकते है, द्रव्य को अनुमोदना नहीं

करते है। इस शका "सत्कार्य नय की अपेक्षा से—
द्रव्य मे भाव की सत्ता का स्वीकार होने से" दूर की जाती है,—

"जो चेव भाव-लेसो, सो चेव य भगवया बहु-मओ उ.।"
'ण तओ विणेयरेणं" ति, 'अत्थओ सो वि एमेव." ॥१०६॥
॥ पञ्चा० ६-३३ ॥

"जो लेशमात्र भी भाव हो, उस का ही अनुमोदन भगवत करते हैं (द्रव्य का नहीं)"

विशेषार्थ

"अपुनर्बन्धक भाव से लेकर चतुर्दश गुण स्थानक तक की सभी अवस्थाओ मे जिस भाव का समावेश होता है, उसकी ही अनुमोदना भगवत करते हैं। उसी कारण से–वे सभी भगवत की आज्ञा मे आ जाते हैं।

क्योंकि–जो जो योग्य कर्तव्य है, वे मोक्ष के साधन होने से, निषेध विना मौन आदि व्यापार–से, अनुमोदित किये जाते हैं।

यदि ऐसा माना जाय, कि—'जो जो हीन कक्षा के अनुष्ठान है, उनकी अनुमोदना ही नहीं है।"
तो अतिप्रसग दोष आ जाता है।
[क्योंकि–तीर्थंकर अवस्था मे सभवित शुद्ध प्रवृत्ति को ही प्रभु अनुमोदित करे, और की प्रवृत्ति को अनुमोदित न रखें, कि जो स्वअवस्था से हीन हो।
तो–देश विरति और अन्य साधु की सर्व विरति भी प्रभु से अनुमोदित न रहने से, वे आज्ञा सिद्ध कर्तव्य ठहरेगा ही नहीं। यह बडा दोष बहुत सी बातों मे आ जायगा। और कोई धर्मानुष्ठान आज्ञा सिद्ध नहीं रहेगा।]

यह बात उपदेश रहस्य,मे हमने कही है—

'जइ हीण दव्व-त्थय अणुमणेज्जा ण, सजमो" त्ति मई,
"ता कस्स विसुह जोग तित्थ-यरो णा ऽणुमणिज्ज ? त्ति"।

अर्थ "यदि हीन अनुष्ठान होने से द्रव्य स्तव को [श्री तीर्थंकर प्रभु] अनुमोदित न रखे, और सयम ही अनुमोदना के योग्य माना जाय, तो—
"श्री तीर्थंकर प्रभु किसी का भी विशुद्ध योग की अनुमोदना न कर सके।" ऐसा फलित होगा। (१)

इस से–"वह लेशमात्र भी भाव, अर्थ से, द्रव्य से रहित नहीं होता है।
इस कारण से–"भाव की साथ उस की भी-द्रव्यस्तव की भी-अनुमोदना होती है, वह भी अनुमोदना के पात्र है।

[पञ्च वस्तु मध्य–इस गाथा की टीका इस प्रकार है—

"यः एव भाव-लेशो बल्या-ऽऽदौ क्रियमाणे,
स एव च भगवतस्तीर्थ-करस्य बहुमतः"।

इत्याऽऽशङ्कयाऽऽह—

नाऽसौ भाव-लेशो विनेतरणे ण-द्रव्य-स्तवेन, इत्य-ऽर्थः।
सोऽपि द्रव्य-स्तवः एवमेव–अनुमतः। इति गाथा-ऽर्थः।

अर्थः

बलि आदि करने में भाव का जो लेश भाग है, वही प्रभु को बहुमत है, (द्रव्य-द्रव्य-स्तव नहीं)।
(ऐसी शंका उठाकर समाधान किया जाता है, कि) "वह भाव लेश भी द्रव्य स्तव से रहित नहीं होता है, इस कारण से–वह भी ऐसा होता है -अर्थात्–वह भी (द्रव्य स्तव भी) अनुमत होता है।]

‡ यही स्पष्ट किया जाता है,—

"कज्जं इच्छंतेणं अण-ऽंतरं कारणं पि इट्ठ" ति.।
जह आहार-ज-तित्तिं इच्छंतेणेह आहारो.॥ १०७॥

पञ्चा० ६-३४॥

जो कार्य की अपेक्षा रखता है, उसको मोक्ष रूप फल को देने वाला नजदीक के कारण की भी अपेक्षा रखनी ही पडती है।
किस तरह ?
"इस लोक में भी, आहार से होने वाली तृप्ति को जो इच्छता है, उसको आहार करने का भी इष्ट रहता ही है"॥ १०७॥

विशेषार्थ

यहां प्रश्न होता है, कि—
"द्रव्य स्तव से, द्रव्य स्तव की प्राप्ति के बीच अर्ध पुद्गल परावर्तन काल का

अतर रहता है, तथापि–उस द्रव्य स्तव का अनन्तर कारण किस तरह कहा जा सकता है ?''

उसका जवाब यह है कि—

''ऋजु सूत्र आदि नय से अनन्तर कारणपना समझना चाहिये।''

उस नय से कथंचित्–उस स्थान का अनन्तर पूर्ववर्ति भावों को पकड़ कर अनन्तर कारणता समझी जावे।

और व्यवहार नय से —

द्वारका व्यवधान से द्वारी अन्यथा सिद्ध नहीं सिद्ध हो जाता है, (घट की उत्पत्ति में दंडका चाकको भमाने में जो भमाने का व्यापार होता है, वही नजदीक का कारण अनन्तर कारण बनता है, तो दण्ड को कारण नहीं माना जाय ?। (ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि–) दंड भमाने की क्रिया द्वारा घट में कारण रहता है, उसी कारण से-दण्ड को (द्वारिको) अन्यथा सिद्ध (निकम्मा) नहीं माना जाता है। इसे व्यवहार नय से-दण्ड घट का निकट का अनन्तर कारण है ही।

यह बात अध्यातममत परोक्षा आदि मे स्पष्टता से सिद्ध की गई है॥१०७॥

‡ श्री जिनभवनादि मे भी आज्ञा का विधान किस तरह माना जाय ? वह कहा जाता है—

> जिण भवण-कारणा-ऽऽइ वि भरहा ऽऽइणं ण निवारिय तेणं, ।
> जह तेसिं चिय ''कामा सल्ल, विसा''-ऽऽईहिं णाण [वयणे] हिं ॥१०८॥
> पञ्चा० ६ ३५ ॥

जिस तरह श्री ऋषभदेव प्रभु ने ''कामो-विषयो शल्य समान है विष समान है'' ऐसा कह कर जिस तरह दृष्टान्त से निषद्ध किया है–न करने को कहा है। उसी तरह भरत आदि श्रावकों को जिनमन्दिर आदि बनाने का निषेध आदि प्रभु ने नही किया है।

यदि निषेध होता, तो विषयसेवा तरह करने को निषेध फरमाते।

विशेषार्थ

''सल्लं कामा, विस कामा''

इत्यादि शास्त्र प्रसिद्ध वाक्यों से निषेध किया गया है ॥१०८॥

ता तं पि अणुमयं चिय अ-पडिसेहाओ तंत-जुत्तीए ।

इय सेसा ण वि इत्थं अणुमोअणमाऽऽइ अ-विरुद्धं ॥१०९॥

पञ्चा० ६-३६ ॥

उसी कारण से तंत्र-शास्त्र-युक्ति से-समझा जाता है, कि–"जिसका निषेध न किया गया हो, उसको "अनुमत किया है ।" ऐसा समझना चाहिये ।
"अ-निषिद्धमऽनुमतम् ।" यह तन्त्र-शास्त्रीय युक्ति है ।
अर्थः "जिसका निषेध न किया गया हो, उसको अनुमत समझना चाहिये ।"
इस प्रकार—

श्री तीर्थंकर देव ने जो अनुमत रखा है, उसमे, और साधुओं के लिए भी द्रव्य स्तव में अनुमोदना निषिद्ध नहीं है । (किंतु-आज्ञा सिद्ध ही है।) ॥१०९॥

विशेषार्थः

आदि शब्द से (जिन भवनादि को) कराने का उपदेश आदि भी (अनुमत में) समझ लेना रहता है ॥१०९॥

‡ उसमें दूसरी भी युक्ति दी जाती है–

जं च, चउद्धा भणिओ विणओ. उवयारिओ उ जो तत्थ, ।

सो तित्थ-यरे णियमा ण होइ दव्व-त्थयादऽण्णो ॥११०॥

पञ्चा० ६-३७॥

दूसरा भी–

चार प्रकार के विनय (शास्त्रों में) बताया गया है । उनमें जो (चौथा) उपचार विनय बताया है, वह विनय श्री तीर्थंकर प्रभु का द्रव्य स्तव से दूसरा नहीं है ॥११०॥

विशेषार्थः

अर्थात्–द्रव्य-स्तव ही उपचार विनय रूप है। (अथवा, द्रव्य स्तव उपचार विनय रूप ही है ॥११०॥

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह हंदि वंदणाए वि ।

पूअणमा-ऽऽइउच्चारणमुववन्नं होइ जइणो वि. ॥१११॥

पञ्चा० ६-३८ ॥

इस (उपचार विनय रूप *द्रव्यस्तव) को संपादन कराने के लिए ही श्री वन्दना सूत्र में भी–
पूअण० (वत्तियाए) इत्यादि का जो (शब्दश) उच्चारण किया गया है, वह मुनि को भी बराबर घटता है ॥१११॥

इअरहा, अण-ऽत्थग त. ण य तयऽणुच्चारणेण सा भणिया।
ता, अभिसधारणओ सपाडणमिट्ठमेअस्स ॥११२॥

पञ्चा० ६-३९ ॥

जो एसा न हो तो, श्री (वन्दनासूत्र में जो उच्चारण किया गया है), वह निरर्थक हो जाता है।
और, उस सूत्र के उच्चार बिना मुनि को वंदना नहीं कही गई है।
इस कारण से, खास विशिष्ट प्रकार की इच्छा से भाव से-मुनि को भी द्रव्य-स्तव संपादित करने का रहता है ॥११२॥

सक्खा उ कसिण-सजम-दव्वा ऽ-भावेहिं णो अय जइणो [इट्ठो]।
गम्मइ तत-ट्ठिइए-"भाव प्पहाणा हि मुणओ" त्ति. ॥११३॥

पञ्चा० ६-४० ॥

संपूर्ण संयम से और द्रव्य (धनादि पदार्थ) के अभाव से यह (द्रव्यस्तव) मुनि को साक्षात् स्वरूप से नहीं माना गया है।
और पूर्वापरका विचार करने से, यह बात शास्त्रयुक्ति से भी ठीक बैठती है, कि—
'मुनिमहात्माएँ भाव की मुख्यता वाले हैं"
"भाव-प्रधाना हि मुनय "
इसी कारण से–मुनि में द्रव्यस्तव गौणरूप में रहता है, मुख्य रूप में नहीं ॥११३

एएहिं तो अण्णं धम्मा ढ़िगारीए जे उ, तेसिं तु।
सक्ख चिय विण्णेयो भावा-ऽगतया. जओ भणियं ॥११४॥

॥ पञ्चा० ६-४१ ॥

---

*"ज्ञान दर्शन चारित्रोपचारा। ९, २३"

श्री तत्त्वार्थाऽधिगम सूत्र।

"ज्ञान विनय, दर्शन विनय चारित्र विनय और उपचार विनय। ९-२३"

उन [मुनि] के सिवाय जो श्रावकवर्ग इस (द्रव्यस्तव) में अधिकारी है, वह तो भावस्तव का अंगरूप होने से द्रव्य स्तव के साक्षात् अधिकारी है ॥११४॥
जिससे कहा गया है, कि—

"अ-कसिण-पवत्तगाणं विरया ऽ-विरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसार-पयणु-करणो दव्व त्थए कूव-दिट्ठ-ऽन्तो," ※ ॥११५॥
पञ्चा० ६-४२ ॥

"संपूर्ण संयमधारी न होने पर भी –कुच्छ अंश में विरत, और कुच्छ अंश में अविरत, एवं देशविरतिधर आत्माओं को शुभ का अनुबंध–शुभ की परंपरा-कराने वाला होने से, एवंसंसार को घटाने वाला होने से यह द्रव्य स्तव उचित है-योग्य है ।
द्रव्यस्तव के विषय में कूपका दृष्टान्त जानना चाहिये । जो उसकी कथा से जाना जाता है ॥११५॥

विशेषार्थ

कूप के दृष्टान्त पर संक्षिप्त विचार—

नवीन नगर की स्थापना करने के समय पानी के लिये कूवां बिना पानी कहां से मिले ? तो कूवे का खनन करते समय श्रम, तृष्णा, कर्दमलेप, आदि कष्ट होते हैं, किन्तु कूप तैयार होने के बाद जलपान, स्नान, आदि से आराम-शान्ति-मिलती है , स्वच्छता होती है, और अन्य लोग भी लाभ उठाते हैं । उसी तरह, जो भावस्तव नहीं कर सकता है, उसको संसार से छुटने के लिए अल्पदोष युक्त होने पर बहुगुण युक्त एवं–भावस्तव में कारणभूत-द्रव्यस्तव अवश्य कर्तव्य है । १८ सहस्र शीलांगरूप भावस्तव जिससे न हो सके, तो "कुच्छ भी न करना चाहिये ?" कुच्छ करना यदि चाहे, तो क्या करना चाहिये ? भावस्तव के कारणभूत द्रव्यस्तव करना ही चाहिये ।※

※ प्राय: आवश्यक निर्युक्ति से यह गाथा ली गई हो, ऐसा मालूम पड़ता है ।

※यदि द्रव्यस्तव करना चाहे, तो किस प्रकार करना चाहिये ? क्योंकि उसमें भी थोड़ा बहुत आरंभ समारंभ होता है, राग द्वेष की संभावना भी रहती है ही, यह बात सत्य है] तो 'कुछ नहीं करना चाहिये यदि ऐसा निर्णय किया जाय" ठीक है, कुछ भी न करना चाहिये । सोते रहे, या बैठे रहे वे ! बैठे क्यों रहे वे ? तो खावें पीवें किस तरह ? कुटुम्ब का परिपालन कैसे किया जाय ? तो गृहकार्य, व्यवसाय आदि करना ही पड़े, तो उसमें धर्म कार्य क्या हुआ ? वे सभी तो सांसारिक कार्य हुए । तो मोक्षभिलाषी जीव को द्रव्यस्तव रूप धर्म-कार्य अवश्य करना चाहिये ।

द्रव्यस्तव की व्याख्या क्या है ? "भावस्तव की प्राप्ति के लिए भावस्तव सिवाय जो कुछ धर्म प्रवृत्ति की जावे, वे सभी द्रव्यस्तव रूप है। देव-गुरु धर्म के प्रणिधान पूर्वक जो कुछ किया जाय, वे सभी द्रव्यस्तव मे समाविष्ट होते हैं। जिनपूजा, तीर्थ यात्रा सम्यक्त्वमूल बारह व्रत, आदि सभी भावस्तव से व्यतिरिक्त उन सभी धर्मकार्य का समावेश द्रव्य स्तव मे होता है।

सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देश विरति सामायिक (और उपलक्षण से मार्गानुसार भाव से) जो किया जाय, उन सभी का समावेश द्रव्य-स्तव मे होता है। शीलाग सम्यग् चारित्र रूप है। सम्यग् दर्शन ज्ञान रूप द्रव्य-स्तव उचित रूप मे मुनि कर सकते हैं, और अनुमोदना भी,

इस कारण से छोटा बडा जो कुछ धर्मकार्य किया जाय, उसमे कुछ न कुछ प्रवृत्ति रहेगी ही, तो हिसा आदि होने की सभावना और शक्यता भी अवश्य है ही। तो भाव स्तव के सिवाय कही भी धम की सभावना नहीं रहेगी।

अत एव, उनमें देव गुरु-धर्म सबन्धि जो और जितना प्रणिधान होता है, वह मुख्यतया द्रव्यस्तव है, प्राणिधान स्वरूप से तो उसको भावस्तव भी कहा जाय, किन्तु, साथ में अन्य हिंसा आदि का सम्पर्क होने से द्रव्य विशेषण दिया गया है। भावस्तव में भी शुभ और शुद्ध प्रणिधान होता है। द्रव्यस्तव में भी शुभ और अल्प मात्रा में शुद्ध प्रणिधान रहता है, इस कारण से दोनो को सामान्य स्तव शब्द से कहे गये हैं।

यदि प्रणिधान न हो, तो दोनो ही स्तव शब्द से वाच्य न किया जा सकता है। प्रणिधान रहित द्रव्यस्तव को भी द्रव्यस्तव नहीं कहा जा सकता, अप्रधान दिखावा मात्र का द्रव्यस्तव भले ही कहा जाय।

जिन पूजा, विधि-भक्ति यतना और औचित्य पूर्वक की जावे, तो वह भी द्रव्यस्तव ही है। विधि में आज्ञाका पालन होना है। भक्ति में प्रभु का प्रणिधान रहता है, यतना में अहिंसा आदि का पालन होता है। औचित्य में विवेक की जाग्रती रहती है। जिन पूजा में दान शील तप भाव भी रहना है।

जिन मदिर में जितने समय अशुभ का जो अनाश्रव-सवर रहे, उतने समय कर्मबंध में जो फरक पड जाय, थोडा भी जिनका प्रणिधान अनाश्रव का लाभ

देवे ही। शुभाश्रव, संवर, निर्जरा, महानिर्जरा का निमित्त जिन देव का प्रणिधान क्यों न बन सके ? किसी भी हालत में भावपूर्वक जिनदेव का प्रणाम अतिफल देता है "तुच्छ पणामो वि बहुफलो होइ" "आपको प्रणाम भी बहुत फल देता है।

"त्वन्नाम-कीर्तन"—आपका नाम का कीर्तन-उच्चारण भी फल देता है, स्मरण भी।

जिनमंदिर, जिनप्रतिमा का-दर्शन-स्पर्शन स्मरण भी जिनदेव के स्मरण में खूब निमित्तभूत होते ही हैं : तो स्मारक आत्मा की विशुद्धि के अनुसार अवश्य अशुभ का अनाश्रव आदि फलों को क्यों न देवे ? दूसरे दुन्यवी प्रत्यक्ष फल मात्र के फलों की कल्पना जैन शास्त्रों में नहीं है। वे आनुषंगिक फल है।

अशुभ का अनाश्रवादि भी बड़ा भारी फल को भी फलों की कक्षा में बताया गया हैं। उसी कारण से जिन प्रतिमा के पूजादिक आध्यात्मिक सुफल से शून्य नहीं है, क्योंकि-आभिगमिक-एवं साधनों से होने वाले सभी प्रकार के आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति में तीर्थ-स्थापक श्री तीर्थंकर-जिनदेव-प्रधान साधन है, मुख्य है, मूलभूत है। उनका थोड़ा भी प्रणिधान आध्यात्मिक विकास के क्या क्या फल न देवे ? वे प्रतिमा द्वारा भी सुलभ और सर्वोत्कृष्ट प्रणिध्येय रूप है।

जो आत्मा स्वात्म प्रणिधान से प्रणिध्येय कक्षा को पहुँच जाय, उसको आवश्यकता नहीं। किन्तु, वह भी औरों के लिए जिनदेव-सुगुरु-सुधर्म का प्रणिध्येयपणा का निषेध नहीं करे। निषेध करे तो, मार्गध्वंसरूप अनाचार दोष लग जाय। किन्तु, उस कक्षा के महात्माओं के लिए ऐसी संभावना ही नही है। अन्यथा श्री तीर्थंकर प्रभु अपनी कक्षा के निम्न कक्षा के लिए तत् तत् विविध धर्माचरण का उपदेश दे भी न सके। न दे सके ? यथा पात्र के योग्य उपदेश अवश्य दे सके।

तो कूप के दृष्टात से जिस तरह गुण और दोष दोनो रहते हैं, तरह-जिन पूजा मे भी कुछ धर्म कुछ अधर्म ऐसा समझना चाहिये ? ना, ऐसा नहीं, धर्म ही कहना चाहिये। क्यो ? निश्चय नय की दृष्टि से दोष मे तो पडा ही था। दोष तो होते ही हैं। आग से भागना ही पडता है। किन्तु बच जाने का फल मिलता है। यदि न भागे, तो मरना पडे, उसी तरह शुभ और शुद्ध प्रणिधान की प्राप्ति आवश्यक है, उसके लिए स्नानादि भी द्रव्यस्तव मे समाविष्ट होता है। जिन पूजा के लिए स्नानादि भी द्रव्यस्तव ही है। शरीर को स्वच्छ रखने के लिए स्नान किया जाय तो वह सासारिक प्रवृति का अग बनता है। स्नान मे भी यह भेद पडता है जिसमे श्री जिनेश्वर देव जैसे सर्वोत्कृष्ट पुष्टालबन प्रणिध्येय रूप है, तो उसको स्तव क्यो न कहा जाय ? धर्म क्यो न कहा जाय ? प्रणिधान धर्म ही है। और उसमे सहायक भी धर्म ही है। प्रणिधान शून्य हो, तो द्रव्यस्तव भी नहीं।

तो उस कक्षा के जीव के लिए वह धर्म ही है। धर्म की नय सापेक्ष-सख्याबद्ध व्याख्याए है, उनमे से किसी एक जो व्याख्या लागु होती है। उस कक्षा की व्याख्या से वह धर्म ही कहा जाय। 'धर्म और अधर्म' ऐसा भी न कहा जाय। गृहस्थ सुमुनि को दान देवें, उसमे भी कई प्रवृति होती है। हिंसा की भी सभावना रहती है, अवश्य रहती है, तो उसको भी धर्माधर्म कहा जाय ? नहीं। व्यवहार नय से-दानधर्म ही कहा जाय।

भावस्तव सबधी धर्म की व्याख्या (निश्चय नय) की अपेक्षा से-"धर्माधर्म" कहा जाय। किन्तु द्रव्यस्तव की अपेक्षा धर्म की व्याख्या से-धर्म ही कहा जाय। धर्माधर्म नहीं। तैयार कूप से पानी मिल जाय, उसकी अपेक्षा से, खोदना पडे, ऐसा कूप मे दोष और गुन दोनों देखा जाय। जल प्राप्त करने वाले को सामने दोष नहीं आता, जल प्राप्ति ही रहती है। अन्य रीति से जल प्राप्ति के अभाव मे-कूपखनन, उससे जल निकालना, आदि दोषरूप न होकर, गुणरूप ही बनता है। देखने में दोष भी गुन के लिए होने से, गुणरूप बनता है, अन्यथा, गुणप्राप्ति कभी भी सभवित नहीं।

प्रधानतया धर्म होने से उस कक्षा के जीवा के लिए व्यवहार नयमे धर्म ही कहना सशास्त्र और युक्ति सिद्ध भी है।

‡ फिर भी शंका उठाकर उसका समाधान भी किया जाता है—

"सो खलु पुप्फा-ऽऽइओ तत्थुत्तो, ण जिण-भवणा-ऽऽई वि. ?" ।

"आइ"-सद्दा वुत्तो." "तय-ऽऽ भावे कस्स पुप्फा-ऽऽई ?" ॥११६॥

"वह द्रव्य-स्तव पुष्पादिक रूप से वहां कहा गया है ।

"पुप्फा-ऽऽइ [दीयं] ण इच्छंति"

"पुष्पादिक को इच्छता नहीं,"

"यह निषेध-भावस्तव प्रधान मुनि के लिए किया गया होने से—उसको प्रतिषेध-निषेध है, तो प्रत्यागत्ति न्याय से-(श्रावक के लिए) पुष्पादि का उपयोग करने का कहा गया है"। "किन्तु, जिनभवनादि कर-करा कर द्रव्यस्तव को करने का वहां कहा नहीं है, तो—उसको वह करने का अधिकार नहीं है ।"

धूलि में खेलता बालक माता-पिता और गुरु को देख कर हाथ जोड़ लेता है, प्रणाम करता है । तो—प्रणाम स्वरूप की कर्तव्यता की मुख्यता होने से—खड़ा होना, हाथ जोड़ना इत्यादि में काययोग की देखने में सावद्य प्रवृत्ति अवश्य होने पर भी "विनय धर्म किया" ऐसा ही माना जायगा, कहा जायगा ।

यदि, "मोक्षाभिलाषी जीव को द्रव्य स्तव करने का नहीं है तो, भावस्तव कर ले ।" अच्छी बात है, किन्तु—भावस्तव न करना हो—न कर सके, उस को द्रव्यस्तव अवश्य करना होगा । वह थोड़ा भी न करना हो, तो वह "मोक्षाभिलाषी अभी तक नहीं हुआ है ।" यह ही मानना पड़ेगा । द्रव्यस्तव की कक्षा में कई प्रवृत्तिओं का समावेश होता है, इसमें से किसी को भी—द्रव्यस्तव की कक्षा से टाल नहीं सकते हैं । कोई जीव एक प्रवृत्ति करे, दूसरा जीव दूसरी कोई प्रवृत्ति इसमें से करे । वे द्रव्य स्तव है । अभव्य जीव का सत्प्रणिधान शून्य मुनि पना भी भावस्तव नहीं है, किन्तु, प्रधान द्रव्यस्तव भी नहीं है । सिवाय, अंशतः श्रुत सामायिक का लाभ हो, जिससे वह नवम ग्रैवेयक तक जा सकता है, किन्तु व्यवहार नय से इसकी भी गणना नहीं की जाती । उसको ग्रैवयेक पना की प्राप्ति, अंशत. भी कुछ द्रव्य स्तव होने से होता है । अन्यथा, इतना भी उच्च स्थान पर किस तरह जा सके ? किन्तु मोक्ष प्राप्ति रूप प्रणिधान की अपेक्षा से वह कुछ भी नहीं । (विशेषज्ञ पुरुषों की कृपा से संशोधन करो ।

सामान्य समझ के आत्माओं के लिए स्वसमझ अनुसार कुछ स्पष्टता की गई है ।

—सम्पादक

"समाधान–"आदि" शब्द से जिन भवनादि करने-कराने का जो कहा है, क्योंकि–जिन-भवादिक के अभाव से–पुष्पादिक किस को चढाया जाय ? किसके लिए हो ? ॥११६॥

"नणु तत्थेव य मुणिणो पुप्फा ऽऽइ णिवारण फुड अत्थि."
अत्थि तय सय करण पडुच्च, नऽणु-मोयणा-ऽऽइ वि. ॥११७॥

‡ "उस स्थान पर–स्तव के अधिकार मे–पुष्पादिक का जो निवारण किया गया है, वह मुनिराज के लिए ही किया गया है।"

"णो कसिण-संजम०"

"पूरा सयम मे (पुष्पादिक का उपयोग मुनिराज इच्छते नहीं)" इत्यादि वचन से–निषेध जरूर किया गया है, किन्तु वह निषेध स्वय पुष्पादिक का उपयोग करने की अपेक्षा से किया गया है।

किन्तु–अनुमोदनादिक की अपेक्षा से नहीं किया गया है ॥११७॥

‡ उसका ही समर्थन किया जाता है,—

सुव्वइ अ "वयर रिसिणा कारवण णि अ अणुट्ठिअमिमस्स" ।
वायग गथेसु तहा एअ-गया देसणा चेव. ॥ ११८ ॥
पञ्चा० ६ ४५ ॥

सुना जाता है कि—

'श्री (पूर्वधर) वज्रस्वामी महाराज श्री ने–कराया भी है, (और–तत्त्व से किया भी है।")

अर्थात्–द्रव्यस्तव का अनुष्ठान किया भी है।

*"माहेसरीउ पुरीउ०" इत्यादि गाथा मे–यह वृत्तान्त कहा गया हैं।

"माहेश्वरी नगरी से पुरी नगरी"

इससे जाना जाता है।

---

*माहेसरीउ सेसा पुरिय नीआहुआसण गिहाओ ।
गयण तलमऽइवइत्ता वइरेण महा-ऽणुभावेण ॥"

"राजायुक्त माहेश्वरी नगरी जाकर, हुताशन व्यन्तर जो पिता का मित्र था, उसका गृहभूत उद्यान से महानुभाव श्री वज्रस्वामीजी आकाशमार्ग को लाघ कर पुष्पसपद "पुरी नाम नगरी मे लाये।" इत्यादिक कथानक उक्त गाथा से सूचित होता हैं।

और—
श्री (उमास्वाति) वाचक महाराज के ग्रन्थ में भी इस विषय पर [जिन भवन बनाना इत्यादिक द्रव्यस्तव बनाने का उपदेश संबन्धी] देशना दी गई है–सुनी जाती है।
"यस्तृण-मयीं कुटीं०" इत्यादि से [पूजा प्रकरण]

और, "जिन-भवनम्०" इत्यादि, "जिनभवन बनाना" इत्यादि भी [प्रशमरति]

विशेषार्थः

[धर्म रत्नमाला आदि ग्रन्थों में भी इस विषय की देशना सुनी जाती है।
पंचवस्तु से]
और वाचक श्री के ग्रन्थ में भी सुना जाता है ॥११८॥
‡ (नया प्रश्न–)

धर्म में हिंसा-अहिंसा

आहे [ह,:–' ए]वं हिंसा वि हु धम्माय ण दोस-यारिणी' त्ति ठियं।
एवं च–''वेय-विहिया णेच्छिज्जइ सेहवामोहो." ॥११९॥

पूर्वपक्षकार कह रहा है, कि—

"इस प्रकार से सोचा जाय, तो–"धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा दोषोत्पादक-दोषरूप नहीं है," ऐसा सिद्धांत स्थिर हो जाता है। उसके बिना द्रव्यस्तव नहीं होता। और इस प्रकार से–"वेद में जो हिंसा देखी जाती है, वह हिंसा को अहिंसातया क्यों नहीं मानी जायगी? ऐसा न मानना, यह एक प्रकार का व्यामोह है–(अपका) अज्ञान है।" ॥११९॥

विशेषार्थः

"दोनो समान होने से वेद-विहित हिंसा को भी, धर्म के लिए होने से धर्म कहना चाहिये, जिस तरह -जिन पूजा में होती हुई हिंसा-धर्म रूप मानी जाती है। दोनों समान स्थिति में हैं" पूर्व पक्ष का यह तात्पर्य है ॥११९॥

"पीड़ा-गारो त्ति अह सा." "तुल्लमिणं हंदि अहिगयाए वि.।
ण य पीडाउ अ-धम्मो णियमा, विज्जेण वभिचारा." ॥१२०॥

‡ जवाब दिया जायगा, कि–"यह (वेदविहित हिंसा) पीड़ा करने वाली है।"
"तो–यहां चर्चा का विषय भूत जिन भवनादि गत) प्रस्तुत हिंसा भी

पीडा करने वाली रहती है, इससे दोनो मे समानता है ।

‡ "पीडा से अधर्म होता ही है," ऐसा नियम भी नही है-ऐसा नियत नियम नहीं. जो ऐसा नियम रखा जाय तो वैद्य के कार्य मे दोष-आ जाय, (क्योंकि-छेदन भेदनादि से पीडा करने पर अधर्म हो जाय किन्तु उसमे अधर्म नहीं कहा जाता है । क्योंकि-रोगी को बचाने की अहिंसा फलित होती है" ॥१२०॥

विशेषार्थ

हित करने वाला वैद्य का औषध-से पीडा की उत्पत्ति होने पर भी, व्रण के छेदन-भेदन आदि से अधर्म नहीं होता है ॥१२०॥

'अह, तेसिं परिणामे सुह तु" "तेसिं पि सुव्वइ एअं" ।
तज्जणणे चि ण धम्मो भणिओ पर-दारगाऽऽईण" ॥१२१॥

‡ "अब, (जिनभवनादि कराने मे जीवो की हिंसा होने पर भी) उन जीवो को परिणाम मे-आखर मे-सुख होता है" ऐसा यदि कहा जाय, तो (यज्ञ में भी जिसकी हिंसा होती है) उन जीवो को भी (स्वर्गादि का सुख मिलता है) । ऐसा (शास्त्रो में) सुना जाता है ।"

"सुख मिलने पर भी परस्त्री का सेवन करने वालों को भी धर्म नहीं होता है," ऐसा शास्त्र में कहा गया है । (इससे सुख मिलने पर भी धर्म हो ऐसा नियम नहीं है ।) ॥१२१॥

"सिय "तत्थ सुहो भावो त कुणमाणस्स" "तुल्लमेअपि ।
इयरस्स वि सुहो च्चिय णेयो इयर कुणतस्स." ॥१२२॥

‡ "ठीक है, किन्तु ऐसा कहा जायगा कि-इनमें (जिनभवनादि कराने में) उसे करने वालो का शुभ भाव रहता है ।" "ऐसा आपका यदि कहना होगा" तो भी दोनो में समानता ही है । क्योंकि-वेद में कहे यज्ञ आदि के विधान से, वेद में कही हुई हिंसा को करने वाले दूसरों को भी शुभ भाव होता है, ऐसा जानना चाहिए" ॥१२२॥

"एगिंदियाऽऽई अह ते" "इयरे थोव '' "ता" किमेएणं ।"
"धम्म ऽत्थ सव्व चिय वयण एसा न दुट्ठ" त्ति " ॥१२३॥

‡ (कहा जायगा कि-) "जिनभवनादि में एकेन्द्रिय आदिक जीवो की हिंसा होती है ।"

"तो यज्ञ में वेद से हिंसा थोड़े जीवों की ही होती है।"

‡ "ऐसा आग्रह से" कहने का क्या है ?

‡ "कहना यह है कि-सम्मानता है। शास्त्र वचनों से (वैसी हिंसा भी) सभी धर्म के लिए ही है। इस कारण से वह हिंसा दोष रूप नहीं है।" ॥१२३॥

‡ इस प्रकार वादि ने अपना पक्ष स्थापित करने पर (आचार्य श्री) कहते हैं—

"एयंपि ण जुत्ति-खमं, ण वयण-मित्ता उ होइ एवमिअं.।

संसार-मोयगाण वि धम्मो-ऽ-दोस-प्पसंगाओ. ॥१२४॥

‡ "(तुमने जो कहा) वह युक्ति-पूर्ण नहीं है।"

‡ "क्यों ?"

‡ "युक्ति रहित वचन मात्र से सभी (सत्य) नहीं हो सकता है।"

‡ "क्यों ?"

"संसार-मोचक धर्म को मानने वालों का धर्म में दोष रहेगा नहीं। क्योंकि-वह निर्दोष बन जायगा" ॥१२४॥

विशेषार्थ

संचार-मोचक धर्म को मानने वालों का मत है कि- "दुःखियों को मार देना चाहिए, जिससे वे दुःख से मुक्त हो जाय।" वह तो बड़ा अधर्म है, तथापि वह भी बड़ा धर्म हो जायगा। और वह कृत्य निर्दोष ठहरेगा. और ऐसे ऐसे जो कार्य होगा, वह सभी निर्दोष-धर्म रूप ठहरेगा। इसे अति प्रसंग दोष इस बात में रहा है ॥१२४॥

"सिय, "तं ण सम्म-वयणं." "इयरं सम्म वयणं-ति" किं माणं ?"

"अह लोगो च्चिय" णेयं, [न] तहा(ऽ-)पाठा, विगाणा य." ॥१२५॥

‡ "ठीक है, किन्तु-"उन (संसार-मोचकों) का वचन ठीक नहीं है।"

"तो दूसरों का (आपके शास्त्रकारों का) वचन अच्छा है," इसमें कौनसा प्रमाण है ?"

(आप कहोगे कि-) "लोक ही प्रमाण भूत है।"

‡ "यह बात भी इस प्रकार नहीं है। क्योंकि—इस प्रकार का कोई शास्त्रपाठ नहीं है।
और "वेद वचन प्रमाण भूत हो" इस बात मे भी लोक के वाक्यो की एकता नहीं हैं, (सभी लोग वेद वचन को प्रमाण भूत मानते ही हें, एसा नहीं हे)" ॥१२५॥

विशेषार्थ

लोक मे छ ही प्रमाण माना गया हे, लोगो को प्रमाण माना जाय, तो सातवा प्रमाण हो जायगा, ऐसा तो नहीं है । । १२५॥

"अह, पाठोऽभिमओ च्चिय, विगाणमऽपि एत्थ थोवगाण उ ।"
एत्थ पि ण प्पमाण, सव्वेसिं अ दसणाओ उ ।१२६॥

‡ लोग को (प्रमाण मानने का) पाठ (उपलक्षण से) समत है, और विरोध तो वेद को प्रमाण मानने मे थोडे ही लोगो का है।"

‡ "(तुम्हारी) यह कल्पना भी ठीक नहीं है—प्रमाण भूत नहीं है। क्योंकि—सर्व लोगो को अपने देख सकते नहीं, (तो किस पक्ष मे अल्प ? या वहुत लोग हैं ? एसा निर्णय नही किया जा सकता है। तो एसी तुम्हारी कल्पना ठीक नही है।" ॥१२६॥

"कि तेसिं दसणेणं ? अप्प बहुत्त जहित्थ, तह चेव ।
सव्व त्थ समवसेय." "णेव, वभिचार-भावाओ" ॥१२७।

"सर्व लोगो को देखने का क्या प्रयोजन है ? जिस तरह इस (मध्य) देश आदि मे वेद वचनो को प्रमाण मानने के लिए सभी को देखना पड़ता नहीं।

जिस प्रकार चल्ता हे, उस प्रकार और सभी देशो मे भी समान ही है (यहा के लोग जिस तरह वेदो को प्रमाण मानते हैं, उसी तरह वहा भी मानते हैं।"

‡ "एसा नहीं हो सकता। क्योंकि—उसमे व्यभिचार दोष आ जाता है" ॥१२०॥

विशेषार्थ

"जिस तरह वेद वचनो को प्रमाण मानने वालो की सख्या यहा पर अधिक है, और प्रमाण भूत नहीं मानने वालो की सख्या अल्प है, उसी तरह और देशो में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए।" "ऐसा नहीं है।" ॥१२७॥

इस बात को ही समर्थित की जाती है—

"अग्गा-ऽऽहारे बहुगा दिसंति दिआ, तहा ण सुद्द"त्ति ।

ण य तद्द'सणओ च्चिय सव्वत्थ इमं हवइ एवं. ॥१२८॥

‡ "अग्र भोजन मे इस देश में बहुत ब्राह्मणों देखे जाते हैं, उसी प्रकार शूद्र लोग ब्राह्मण की तरह बहुत नहीं देखे जाते हैं।"

"ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि–इस देश में भोजन की आगे की पंक्ति में ब्राह्मणो को बहुत देखने पर भी, भील्ल-पल्ली आदि स्थानों में ऐसा (ब्राह्मण बहुत्व) देखने में आता नहीं" ॥१२८॥

‡ उसमें दूसरी युक्ति भी दी जाती है—

"ण य" बहुगाण'ऽपि इत्थं अ-विगाणं सोहणं" ति नियमोऽथं." ।

ण य "णो थोवाणं पि हु," मूढेयर-भाव-जोएणं. ॥१२९॥

"लोक में बहुलोगों की एक वाक्यता ऐकमत्य अच्छा ही है," एसा नियम नहीं है । और, "थोड़े को भी एक वाक्यता अच्छी नहीं है" । "एसा भी नियम नहीं है ।" किन्तु–मूढ भाव से–इतर भाव का योग से जो हो, वह अच्छा होता है ।" एसा नियम है ॥१२९॥

विशेषार्थ

बहु होने पर भी मूढ लोगों की एक वाक्यता अच्छी नहीं होती हैं, और "मूढ भाव से रहीत एक का भी कहना अच्छा होता है ।" अर्थात् जो मूढ भाव से रहित भावसे–उसका योग से–कहा गया हो, वह अच्छा हो सकता है ।

मूढ भाव से इतर भाव का योग का अर्थ यह है कि– मिथ्या ज्ञान और मोह से प्रयुक्त क्रोध, मानादि कषाय भाव और इंद्रियों की आसक्ति, इत्यादि मूढ भाव से प्रयुक्त रहते हैं । और सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र । उसे मूढेतर भाव कहे जाते है । ऐसे मूढेतर भाव से प्रयुक्त जो निर्णय, विचार, वाक्य, प्रवृति, वे सभी अच्छे होते हैं ।

अर्थात्-बडे लोगो का भी मूढ व्यापार होता है। और थोडे का मूढ व्यापार भी न हो, एसा मालुम पडता है। "बहुत कबूतर चारो के दाने देख कर, चुगने के लिए एक स्थान पर उतर गये। किन्तु एक वृद्ध कबूतर ने निषेध किया, कि–ये दाने खाने को जाना अच्छा नहीं है। तथापि–सब उतरे। और बिछायी हुई जाल में सब फस गये। तब सभी वृद्ध का मुह ताकते रहे, चतुर वृद्धने कहा "यदि जाल के साथ सभी एक साथ उडें तो रक्षा होगी, अन्यथा, शिकारी आने पर सभी की मृत्यु अवश्यमेव होगी ही। सभी एक साथ उडे और बच गये।"

इस कारण से, सामान्य समझ के भी बहुत लोगो का मतो को एकत्र करने से अच्छा ही निर्णय हो जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। उनमे से भी ज्ञानी समझदार, निःस्वार्थी हितेच्छु का मानने का रहता है। भारत मे ज्ञानी और हितस्वी सत पुरुषो का सत शासन चलता है। और दूसरी प्रजा का हित के लिए इस देश की उन्नति करने मे और स्थानीय प्रजा की अवनति करने मे, "हितस्वी बडे लोग बाधा कारी दरम्यान गिरी न कर सकें," इस हेतु से आम प्रजा को बीच मे खडी रखने की याजना की गयी है, जिसे वह हितस्वी वर्ग दूर रह जाय। जाहीर जीवन से उन्हीं को हटाने के लिए ये सभी बाहर के लोगो का आयोजन है। यह सत्य रहस्य है। इस सत्य रहस्य को स्थिर करने के लिए यह प्राचीन गाथा कितनी प्रमाणभूत और दृढतर है? ऐसा शास्त्र प्रमाण-प्रजा का भला के लिए आज भी कितना मार्गदर्शक है? यह शान्ति से सोचना चाहिए।

‡ "ण य रागाऽऽइ-विरहिओ काऽवि माया विसेस कारि" त्ति।
"ज सव्वे वि अ पुरिसा रागाऽऽइ जुआ उ" पर-पक्खे ॥ १३० ॥

‡ "सत्य को समझाने वाला और रागादि दोष से रहित तथा सर्व को जानने वाला विशेष प्रकार माता-प्रमाता ज्ञाता है ही नहीं।

इस कारण से इस–जगत् मे सभी मानव रागादि युक्त है," इस तरह का मत दूसरे पक्ष का–मीमांसक दर्शन का–है। क्योंकि–वह दर्शन कोई सर्वज्ञ होने को स्वीकार नहीं करता है।" ॥ १३० ॥

विशेषार्थ

रागादि रहित एसा कोई सर्वज्ञ नहीं है कि-जो "वैदिक वाक्य ही प्रमाण भूत है, दूसरे वाक्य प्रमाण भूत नहीं." ऐसा बता सके ॥१३१।

दूसरा भी दोष बताया जाता है—

"एवं च वयण-मित्ता धम्मा-ऽ-दोसा-ऽऽह मिच्छगाणं पि।
घायंताणं दि-अ-वर पुरओ णणु चंडिगा-ऽऽईणं." ॥ १३१ ॥

"इस प्रकार (प्रमाण विशेष नहीं मिलने से भी) वचन मात्र से म्लेच्छ (भील्ल) आदि की प्रवृत्ति को धर्म रूपता और निर्दोषता प्राप्त हो जाती है।

अरे ! चंडिका देवी आदि के आगे अच्छे ब्राह्मण का भी घात करने वाले म्लेच्छादि की प्रवृत्ति धर्म रूप और निर्दोष सिद्ध हो जाती है, जो ठीक नहीं" है ॥ १३१ ॥

"न च तेसिं पि ण वयणं एत्थ निमित्तं" ति. जं ण सव्वे उ
तं तह घायंति सया, अ-स्सुअ-तच्चोयणा-वक्का." ॥ १३२ ॥

"इस (द्विजवर के घात) में उन्ही का भी वचन निमित्त भूत नहीं है, एसा भी नहीं है। वचन निमित्त भूत रहता है। क्योंकि- सभी म्लेच्छ लोग उसी प्रकार सदा के लिए उस (द्विजवर) का घात करते नहीं हैं, क्योंकि— उस विषय में प्रेरक [नोदना] वाक्य जिन्होंने न सुना हो, वे घात करते नहीं हैं !"

अर्थात्—"उस घात में भी-वचन की प्रेरणा निमित्त भूत है। ऐसा समझना चाहिये" ॥१३२॥

"अह-"तं ण एत्थ रूढ़" "एअंपि ण तत्थ, तुल्लमेवेयं."।
"अह" तं थोवमणुच्चियं" "इमं पि एयारिसं तेसिं ॥ १३३ ॥"

"यदि ऐसा माना जाय कि–वह (मलेच्छ प्रवर्तक वचन) इस (लोक) में रूढ नहीं हैं।" "तो यह (वैदिक वाक्य) भी उस (भील्ल लोक) में रूढं नहीं है" इस कारण से दोनों दलीलों की समानता रह जाती है। क्योंकि दोनों भी वचन एक एक में रूढं नहीं है" !

‡ "उस (म्लेच्छ प्रवर्तक वचन) तुच्छ और अनुचित (असंस्कारि) है।" यदि ऐसा कहा जाय

‡ तो, उन (म्लेच्छों) की दृष्टि मे आशय भेद से इस (प्रेरक वैदिक वाक्य) मे भी इस प्रकार की(तुच्छ और अनुचित आदि रूप) स्थिति रह जाय" १३३॥

[गा० १३४ और गा १३५ की अवचूरिका का भाव बराबर समझ मे आता नहीं है, और जिस प्रकार से प्रतिमाशतक मे छपा गया है, उस प्रकार का ही पाठ कलकत्ता के तपागच्छीय पुस्तकालय की हस्त लिखित प्रति मे है, अर्थात् दोनो गाथा की योग्य अवचूरिका नहीं है। किन्तु दोनो गाथा के आगे अवतरणिका के रूपसे कुछ पाठ दिया गया है। तथापि–दोनो गाथा की छाया बनाकर अर्थ की सगति करने के लिए प्रयास किया गया है। और पचवस्तु महाग्रन्थ मे जिस तरह दोनो मूल गाथायें और उनकी अवचूरिका है, वैसी ही यहा पर दी गई है। दूसका कोई उपाय नहीं है। सम्पादक]

["अह त वेय ऽ ग खलु" "न तपि एमेव" 'इत्थ वि ण माणं।"
"अह तथाऽ-सवणमिण" ति ण[अ ण]मुच्छिन्न-साह तु.' । १३४॥

‡ "अब कहा जाता है कि–उस द्विज प्रवर्तक वाक्य वेद का अग रूप है।"

‡ "तो म्लेच्छ प्रवर्तक वाक्य भी वेद मे न हो, उसमे कोई प्रमाण नहीं है।"

‡ "वेद मे ऐसा कोई वचन सुनने मे आता नहीं है।"

‡ (सुनने मे न आवे ऐसा भी) हो सकता है, किन्तु,
(इसका कारण यह भी कहा जाय कि (वेदो की) बहुत सी शाखायें उच्छिन्न (हो गई) है," (ऐसा कहा जाता है। उसी कारण से ऐसा वचन सुनने मे न भी आवे।)" ऐसा वे भी कह सकते हैं।" ॥१३४॥

"ण य तव्वयणाओ च्चिय तदुभय-ऽ-भावो त्ति.तुल्ल-भणिईओ"।
अण्णा वि कप्पणोऽ साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा ।। १३५॥

‡ कहा जाय कि— 'उस (वेद) वचन मे ही वे दोनो (धर्म और दोषाभाव) नहीं हो सकता है।" क्यो ?

म्लेच्छ के वचन से ही ये दोनों– धर्म और दोषाभाव–रहता है। ऐसा भी कहा जा सकता है।

"(म्लेच्छ वचन में) भी धर्म और दोषाभाव नहीं हो सकता है।" ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि– म्लेच्छ प्रवर्तक वचन से भी वे दोनों (धर्म और दोषाभाव) कहा जा सकता है। (एक पक्ष की युक्ति दूसरे पक्ष में लागू की जाती है।)

"और इस कारण से ही दूसरी भी कोई कल्पना की जावे, वे सभी उपरोक्त रीति से बराबर नहीं होगी. क्योंकि– कोई साधर्म्य से, और कोई वैधर्म्य से दूषित सिद्ध हो जायगी।

भाव यह है कि– इस चर्चा में-जो जो दलील दी जायगी वह– साधर्म्य और वैधर्म्य की दलीलों से दूषित बतलाई जा सकती है। अर्थात् जो– ब्राह्मण के पक्ष में दलील दी जायगी, उस को म्लेच्छ के पक्ष में घटा कर साधार्म्य रूप से खंडित की जा सकती। अथवा–वैधर्म्य बतला कर भी खंडित की जा सकती, कि–"आप की दलील प्रस्तुत में बराबर बैठती नहीं।" ऐसा प्रमाण बतलाकर खंडित की जा सकती है। क्योंकि– मूल वस्तु की क्षति सर्वत्र ऐसी ही रह जाती है। यह रहस्य है ॥१३४, १३५॥

"अह तं ण वेइअं खलु" "न तंपि एमेव एत्थ वि ण माणं, ।"
"अह तत्थाऽसवणमिदं हविज्ज, उच्छिण्ण साहत्ता. ॥१३४॥

ण य तव्विवज्जणाओ उचिय-भावोऽत्थ, तुल्ल-भणिईओ. ।
अण्णा वि कप्पणाइ साहम्म-विहम्मओ दुट्ठा. ॥ १३५ ॥

("अथ-तद्-न वैदिकं खलु" "न तदापि एवमेव, अत्राऽपि न मानम्." ।
"अथ-तत्राऽ-श्रवणमिदं भवेत्, उच्छिन्न-शाखत्वात्. ॥ १३४ ॥

न च तद् विवर्जनात् उचित-भावोऽत्र, तुल्य-भणितितः. ।
अन्याऽपि कल्पना साधर्म्य वैधर्म्य तो दुष्टा ॥ १३५ ॥ (?)

(प्रतिमाशतक की दो गाथा का पाठ इस तरह है– समझ में न आने से अर्थ नहीं किया है।)

‡ जिन कारणो से इस प्रकार की स्थिति है—

"तम्हा ण वयण मित्तं सव्वत्थऽ-विसेसओ बुह जणेण ।
एत्थ पवित्ति णिमित्त एअ दट्ठव्वय होइ" ॥ १३६ ॥

उन उपरोक्त कारणो से—विद्वान् पुरुष का, किसी खास विशेषता रहित पना से युक्ति शून्य—अर्थात् अघटमान वचन मात्र को "सर्वत्र इस लोक मे हितकारी कार्यादि मे प्रवृत्ति कराने में—कारण भूत नहीं है।" एसा समझना चाहिए ।

"वचन—मात्रपना से हितकारी है ।" ऐसा नही समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

‡ (तब क्या करना चाहिए ?)

"किं पुण विसिट्ठग चिय, ज दिट्ठिट्ठाहिं णो खलु विरुद्ध, ।
तह सभव [त-रूव] स-रूवं विआरिऊ सुद्ध-बुद्धिए (?) ॥१३७॥

जो वचन विशिष्ट हो, उसको ही प्रवृत्तिनिमित्तक बनाना चाहिए।

ऐसा वचन कोनसा हो सकता है ? जो दृष्ट से और इष्ट से विरुद्ध वचन रूप न हो, ऐसा तीसरा स्थान मे रहा हुआ हो, और सभवित-स्वरूप वाला हो । (अर्थात् अत्यन्त असभवित स्वरूप वाला न हो) । सद्बुद्धि से (मध्यस्थ बुद्धि से) विचार कर, एसे वचन को प्रवृत्ति निमित्तक बनाने मे स्वीकार करना चाहिए ॥१३७॥

‡ (दृष्टान्त दिया जाता है—)

"जह इह, दव्व त्थयाओ भावा ऽऽवय-कप्प गुण जुया उ [जुआ सेओ]
जयणाए पिडुवगारो जिण-भवण-कारणा दित्ति (इ"-इत्ति) न विरुद्ध. ॥१३८

जिस प्रकार इस (जैन प्रवचन में) कहा गया है कि– "भावापत्ति निस्तार गुण युक्त द्रव्य स्तव से कल्याण है। क्योंकि– पिडा होने पर भी जिन भवन करना–कराना आदि द्रव्य स्तव से- (यतना पूर्वक) पीडा करने-कराने से

स्वर्गादि देने वाली न रहने पर) मोक्ष रूप भी फल देने वाली होती है ॥१४२॥

ता एयम्मि [एईए] अ-हम्मो णो, इह जुत्तं पि विज्ज-णायमिणं. ।
हंदि गुण-ऽंतर-भावा. इहरा. विज्जस्स वि अ-धम्मो. ॥ १४३ ॥

इस कारण से- इस प्रकार की पीड़ा में अधर्म नहीं है। क्योंकि- इससे गुणों की प्राप्ति होती है।

इस विषय में- प्रथम दिया गया वैद्य का वह दृष्टांत भी योग्य माना गया है। क्योंकि-उसमें भी लाभ होता है, इस से वैद्य की प्रवृत्ति (छेदन-भेदनादि पीड़ाकारी होने पर भी) योग्य मानी जाती है।

यदि, वैद्य भी (लाभ प्राप्त न हो) इस प्रकार अविधि से (छेदन-भेदनादि करे, तो ऐसी पीड़ा करने में) वैद्य को भी अधर्म होता है ॥१४३॥

† (वेद विहित हिंसा और जिन भवनादिगत हिंसा में भेद का प्रतिपादन-)

ण य वेय-गया चेवं सम्मं, आवय-गुण ऽन्निया एसा. ।
ण य दिट्ठ-गुणा, तज्जुय-नय-ऽंतर णिवित्ति-दा [आ] नेव. । १४४ ॥

इस कारण से-वेद गत हिंसा. जिन भवनादि गत हिंसा के समान अच्छी नहीं है। क्योंकि-वह हिंसा आपद् निवारण गुण युक्त नहीं है अर्थात् अनिवार्य नहीं है। और साधु निवास आदि गुणोयुक्त भी नहीं देखी जाती। और हिंसा के बाद आरंभादि दूसरी प्रवृत्ति से निवृत्ति देने वाली भी वह हिंसा नहीं है। और पहिला भी निवृत्ति देने वाली नहीं रहती है. क्योंकि-याज्ञिक लोक प्राणि के वध में-आरंभ से प्रवृत्त रहते है ॥ १४४ ॥

"ण य फलुद्देस-पवित्तिओ इयं मोक्ख-साहगा वि" त्ति. ।
मोक्ख-फलं च सु-वयणं, सेसं अत्था-ऽऽइ-वयण-समं. ॥ १४५॥

फल का उद्देश्य रखकर हिंसा की जो प्रवृत्ति की जाती है, उससे-विचार किया जाय तो भी, उस हिंसा मोक्ष देने वाली भी नहीं सिद्ध होती है।

क्योकि श्रुति में ही कहा गया है कि "स्वर्ग की इच्छा वालो को श्वेत और वायव्य (?) बकरे को मारना चाहिए।"

॥ श्वेत वायव्यमऽजमाऽऽलभेत भूति कामः ॥

"मोक्ष का फल तो" इत्यादि प्रकार का श्रुति का वचन है।
सुवचन सु आगम दे सकता है।

शेष वचन-अर्थ-काम आदि देने वाला वचन समान रहता है, स्वर्गादि फल मिलने पर भी अर्थ शास्त्रादि के वचन समान रहता है। मोक्ष–फलक सुवचन नहीं रहता है ॥ १४५ ॥

‡ "यहा पर, आगम से विरोध भी बतलाया जाता है—

"अग्गी मा एआओ एणाओ मुच्चउ" त्ति य सुई वि. ।
तप्पाव-फला "अधे तमम्मि" इच्चा ऽऽइ य सई वि. ॥ १४६ ॥

"वेद मे--श्रुति में-- वाक्य है, कि—
"अग्निर्मामेतस्मादेनसो मुञ्चतु।"

"अग्नि मेरे को इस पाप से मुक्त करा दो।"

(यहा "मुञ्चतु" शब्द का अर्थ छादस् होने से "मुक्त करा दो" ऐसा होता है। अर्थात् "हिंसा पाप का फल से मुक्त करा दो।" यह भाव है। और

"अन्धे तमसि०"

—इत्यादि स्मृति का वाक्य भी है॥ १४६ ॥

विशेषार्थ

"अन्धे तमसि मज्जाम' पशुभिर्ये यजामहेः ।
' हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति॥"

इस प्रकार स्मृति का भी वाक्य है।

"हम लोग पशु से जो यज्ञ कर रहे हैं, तो अन्धकार मय तमस् नामक नरक में डूब रहे हैं।" "हिंसा धर्म नहीं हो सकता है, भूतकाल में नहीं हुआ है, और भविष्य में भी नहीं होगा।" [अपेक्षा समझनी चाहिये। स०]

''अत्थि जओ, ण य'' एसा अण्ण-ऽत्थ [तीरइ] सकए इहं भणिउं. ।
अ-विणिच्छया, ण चेवं इह सुव्वइ पाव-वयणं तु. ॥ १४७ ॥

"इस प्रकार स्मृति और श्रुति के वाक्य विद्यमान तो है, किन्तु, "उनके दूसरे अर्थ होते हैं, कि–"अविधि दोष से उत्पन्न हुआ पाप से बचाने का अर्थ है।"
ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि–ऐसा कोई प्रमाण नहीं है।"

‡ और, श्री जिन भवनादिक कराने में इस प्रकार के कोई पाप वचन इस शास्त्र में–जैन शास्त्र में–प्रवचन में–तो नहीं सुना जाता है ॥ १४७ ॥

''परिणामे य [म–सु] सुहं णो तेसिं इच्छिज्जइ. ण य सुहं पि. ।
मंदा-ऽवत्थ कय-समं. ता तमुवण्णास-मित्तं तु. ॥ १४८ ॥

"जिन भवनादि कराने में जिन जीवों की हिंसा होती है, उन जीवों को परिणाम में हिंसा–निमित्तक सुख होता है।" ऐसा जैन शास्त्रकार भी मानते नहीं है।

और हिंसा से सुख मानते नहीं है। थोडा थोडा कुपथ्य करने से उतना दुःख मालूम नहीं पड़ता है, किन्तु, वह भी परिणाम में भयंकर दुःख देने वाला होता है। उसी प्रकार–मंद कुपथ्य करते समय भी सुख का अनुभव रहता है। किन्तु वह भी वास्तव में सुख नहीं है। इस कारण से उसको सुख कहना वचन मात्र ही रहता है ॥ १४८ ॥

"अह तेसिं परिणाम० [१२१]" गाथा में पूर्व पक्षकार ने जो कहा था, उसकी स्पष्टता इस जवाब से की गई है।

"यज्ञ में होमे गये पशुओं को परिणाम में स्वर्ग का सुख दिया जाता है।" ऐसा भी कहना योग्य नहीं। हिंसा का विपाक दारूण होता है॥१४८॥

‡ ''इय दिट्ठेट्ठ-विरुद्धं जं वयणं, एरिसा पवत्तस्स. ।
मिच्छा-ऽऽइ-भाव-तुल्लो सुह-भावो हंदि विण्णेयो''. ॥ १४९ ॥

इस प्रकार दृष्ट और इष्ट से विरुद्ध जो वचन हो, ऐसा वचन से, प्रवृत्ति करने वाला जो हो, उसका शुभ भाव म्लेच्छादि के शुभ भाव समान

मोह से-अज्ञान मे शुभ भाव माना गया समझना चाहिए। अर्थात्–वह शुभ भाव नहीं हो सकता है ॥ १४९ ॥

‡ "एगिंदिया-ऽऽइ अह ते [१२३]" जिन भवनादिक मे एकेन्द्रिय आदि जीवो की हिंसा होती है, ओर जोवो की हिंसा नहीं होती है।" ऐसा जैन पक्ष का खडन करने के लिए कहा जाता है, कि–"यज्ञ मे वडे भी थोडे जीवो की हिंसा होती है और जिन भवनादि मे एकेन्द्रिय आदि बहुत जीवो की हिंसा होती है।" ऐसा कहकर जिन भवनादि मे पूर्व पक्षकार ने अधिक हिंसा वतलायी है। अब उसका परिहार करने के लिए समाधान किया जाता है, कि—

"एगिंदिया-ऽऽइ भेयोऽवित्थ णणु पाव-भेय हेउ" त्ति।
इट्ठो तएऽवि स-मए तह सुद्द-दि-आ-ऽऽइ-भेएण. ॥ १५० ॥

इस प्रसग मे एकेन्द्रिय आदि का जो भेद (जैन शास्त्रो मे) वताया गया है, वह पाप का भेद वतलाने के लिए ही है। इससे ये भेद वतलाना यहा इष्ट है, कि–छोटे जीवो की हिंसा से वडे जीव की हिंसा मे अधिक हिंसा दोष है। इस कारण से तुम्हारे मत मे भी यह इष्ट मानकर, शुद्र, द्विज, इत्यादि भेद वतलाये गये हैं ॥ १५० ॥

‡ वही कहा जाता है—

"सुद्दाण सहस्सेणऽवि ण वभ हच्चेह घाइएण", त्ति।
जह, तह अप्प बहुत्त, एत्थ वि गुण-दोस-चिंताए ॥ १५१ ॥

"हजार शुद्र मारने पर भी जिस तरह तुम्हारे शास्त्र मे एक ब्रह्म हत्या का भी पाप नहीं होता है। उसी प्रकार यहा पर हिंसा के गुण दोष के विचार मे अल्पपना का और बहुपना का विचार समझना चाहिए ॥१५१॥

‡ (और एकेन्द्रियादिक जीवो की हिंसा पञ्चेन्द्रियादिक की हिंसा से अल्प हिंसा है, और यतना पूर्वक प्रवृत्ति करने वालो को ओर अल्प हिंसा लगती है, यह कहा जाता है,–)

"अप्पा य होइ एसो एत्थ जयणाए वट्टमाणस्स". ।
"जयणा उ धम्म-सारो विण्णेया सव्व-कज्जेसु" ॥ १५२ ॥

इस जिन भवनादिक बनाने में यतना से प्रवृत्ति करने वालों को यह हिंसा भी अल्प लगती है।" क्योंकि– "ग्लानादिक की सेवा आदि सभी कार्यों में यतना ही धर्म का सार-रूप है।" ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थः

यतना और भाव शुद्धि से प्रवृत्ति करने में हेतु हिंसा और अनुबंध हिंसा नहीं होती है। इस कारण से मात्र स्वरूप हिंसात्मक हिंसा मर्यादित रह जाती है। उस कारण से उसमें अल्प हिंसा होती है। उस हेतु से थोड़ा भी कर्मबंध नहीं होता है। इस दृष्टि से "इट्ठा एसा वि मोक्ख-फला।" [१४२] इस गाथा में–उस हिंसा को मोक्ष फल को देने वाली होने से इष्ट मानी जाने का पूर्व ही कहा गया है।

इस बात का प्रमाण भी दिया जाता है--

"अणुमित्तोऽपि ण कस्सइ बन्धो वर वत्थु-पच्चया भणिओ." ।
इति सैद्धान्तिकाः ॥ १५२ ॥

"उत्तम वस्तु निमित्तक किसी को भी अणुमात्र का भी बन्ध नहीं होता है।" ऐसा सिद्धान्तकारों ने कहा है॥ १५२॥

"जयणेह धम्म-जणणी. जयणा धम्मस्स पालणी चेव. ।
तव्वुड्ढि-करी जयणा. एग-ऽन्त-सुहा-ऽऽवहा जयणा." ॥ १५३ ॥

(१) इस जगत् में यतना धर्म की माता है।

(२) यतना धर्म को जन्म देकर उसका पालन भी करती है।

(३) यतना धर्म को बढ़ाने वाली है।

(४) यतना सभी ओर से कल्याण करने वाली होने से, एकान्त से सुख करने वाली है ॥ १५३ ॥

+ (यतना का महत्त्व की अधिक स्पष्टता—)

"जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्त-णाण-चरणाणं ।
सद्धा-बोहा-ऽऽसेवण-भावणाऽऽराहगो भणिओ. ॥१५४॥

यतना में वर्तने वाला जीव (आत्मा) श्रद्धा, बोध, और आसेवना-पालन

करने से सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र इन तीनो का आराधक कहा गया है ॥ १५४ ।

एसा य होइ णियमा तय ऽहिंग दोस-विणिवारणी जेण ।
तेण णिवित्ति-पहाणा विण्णेया बुद्धिमतेण ॥ १५५ ॥

ऐसी यतना अनुबंध हिंसा रूप अधिक दोषो को नियम से अटका देती है । इस कारण से–इस यतना को बुद्धिमान आत्मा ने वास्तविकतया निवृत्ति अर्थात् मोक्ष रूप मुख्य फल को देने वाली समझनी चाहिए ॥ १५५ ॥

‡ (जिन भवनादिक में यतना किस प्रकार की जाती है ? यह बताया जाता है—)

सा इह परिणय जल-दल-विसुद्ध-रूपा उ होई विण्णेया ।
"अत्थ-व्वओ महंतो, सव्वो सो धम्म-हेउ त्ति" ॥ १५६ ॥

"जिन भवनादिक के निर्माण कार्य में छाना हुआ जल और विधि से लिया हुआ दल (पदार्थो) की विशुद्धि आदि रूप यतना होती है।" ऐसा जानना चाहिए । क्योकि–प्रासुक पदार्थो का ग्रहण करने का रहता है ।

और इसमें यद्यपि धन का खर्च भी बड़ा होता है । तथापि–वह सभी धर्म के कारण भूत बनते हैं । क्योकि–उस धन का उपयोग अच्छे स्थान में ही किया जाता है ॥ १५६ ॥

‡ प्रसग से इस विषय में कुछ अधिक कहा जाता है:—

"एत्तो चिय णिद्दोस सिप्पा-ऽऽइ-विहाणमो जिणिदस्स ।
लेसेण स दोस पि हु बहु दोस-णिवारणत्तेणं ॥ १५७ ॥
वर बोहि-लाभओ सो सव्वुत्तम-पुण्ण-सजुओ भयव, ।
एग-ऽ त-पर-हिअ रओ, विसुद्ध-जोगो, महा-सत्तो ॥ १५८ ॥
जं बहु गुण पयाण, त णाऊणं, तहेव दसेइ [देसेइ], ।
ते रक्खतस्स तओ जओचिअ, कह भवे दोसो ? ॥ १५९ ॥
तत्थ पहाणो अ असो बहु-दोस-निवारणोह जग-गुरुणो, ।
नागा-ऽऽइ-रक्खणे जह कड्ढण-दोसे वि सुह-जोगो. ॥ १६० ॥

एवं णिवित्ति-पहाणा विण्णेया तत्तओ अहिंसेयं ।
जयणावओ उ विहिणा पूआ-ऽऽइ-गया वि एमेव ॥ १६१ ॥"

‡ इन गाथाओं की व्याख्या–'यतना का कारण से ही—

थोड़े अंश में सदोष होने पर भी, श्री (आदि) जिनेश्वर देव ने शिल्प आदि का जो विधान किया है, वह यतना पूर्वक होने से निर्दोष है। क्योंकि– अनुबंध में– परिणाम में– बहुत दोषों का निवारण करने वाला रहता है ॥ १५७ ॥

वही बात कही जाती है,–वह जिनेन्द्र भगवान् उत्तम बोधि की प्राप्ति से लेकर सर्वोत्तम पुण्य युक्त होते हैं, और उसी प्रकार का स्वभाव वाले होने से एकान्त से दूसरे जीवों के हित में तत्पर रहते हैं। प्रभु योग विशुद्ध योग वाले और महा सात्त्विक थे ॥ १५८ ॥

इस कारण से, प्रजा की रक्षा के लिए (प्राणियों की रक्षा के लिए भी) जो अधिक गुणकर–फायदा पहुंचाने वाला–हो, ऐसा समझकर उसको ही प्रभु बतलाते हैं। जिसको अनुबन्ध से जैसा योग्य हो, वही बतलाते हैं। तो उसमें किस प्रकार दोष हो सकता है ? ॥ १५९ ॥

वही स्पष्ट किया जाता है—उस (शिल्पादि विधान बताने) में जगद्गुरु का प्रधान अंश इस जगत् में बहुदोषों की रुकावट करने को रहता है।

जिस तरह खड्डे में पड़े हुए पुत्र का जीवन का सर्प से रक्षण करने के लिए माता बालक को खींच लेती है, और कंटकादि लगने से दुःख भी उत्पन्न होता है तथापि, शुभ योग होने से यह खींचना दोष रूप नहीं होता है। किन्तु बहुदोषों का निवारण रूप होता है ॥ १६० ॥

विशेषार्थ

एक बालक खड्डे में गिर गया। सामने से बिल से निकल कर एक विषैला सर्प आ रहा था। माता ने पुत्र की परिस्थिति जान ली। शीघ्रता से दौड़ कर खड्डे से पुत्र को हाथ पकड़ जल्दी से खींच लिया गया। पुत्र के शरीर में कांटे लगे, घर्षण से कुछ रुधिर भी निकला। ये दोष हुवे भी। किन्तु, पुत्र को

मरण से बचा लिया, इस हेतु थोड़ा दोष होने पर भी, जीवन दे कर बहुत अंश में लाभ ही उठाया गया।

उसी प्रकार– मिथ्यात्व कषाय विषय लोलुपता आदि सांसारिक भावों में डूबे हुए लोगों को– धंधे, शिल्प, विवाह मर्यादा, राज्य तन्त्र आदि मार्गानुसारि मर्यादित जीवन मार्ग में स्थिर करने से– बहुत से दोषों से निवृत्त कर, बहुत से पाप से प्रजा को बचा ली है।

इ० जिस तरह–विवाह से एक आदि पत्नी नियत रहने से पशुओं की तरह अनियत काम भोग अटक जाता।

इस प्रकार अनुबन्ध की अपेक्षा से वह (जिन भवनादिक बनाने में होती) हिंसा निवृत्ति प्रधान होने से, वास्तविकतया अहिंसा जाननी चाहिए।

उसी प्रकार–यतना युक्त आत्मा से विधि पूर्वक की जाने वाली जिनपूजा आदि में होने वाली हिंसा भी तत्त्व से अहिंसा जाननी चाहिए॥ १६१ ॥

और दूसरा भी (जिन पूजा के विषय में) प्रासंगिक कहा जाता है, कि—

''सिय,'' पुआओवगारो ण होइ कोऽवि पुअणिज्जाण,।
कय-किच्चत्तणओ, तह जायइ आसायणा चेव ॥ १६२ ॥

पूर्वपक्षकार का प्रश्न है कि– "भले ही पूजा में अहिंसा मानो, किन्तु, जिन पूजा से किसी को कोई लाभ होने वाला है ही नहीं। वे वीतराग होने से कृतकृत्य है, तो उसी प्रकार उन्हीं की पूजा करने से उसकी आशातना ही होती है। क्योंकि–पूजा करने से पूज्य का अ कृत-कृत्य पना दिखाया जाता है। जिससे–आशातना होती है, अपमान होता है॥ १६२ ॥

ता अहिंग-णिवत्तीए गुणतर णऽत्थि एत्थ णियमेण.।
इय एय गया हिंसा सदोसमो होइ णायव्वा'' ॥ १६३ ॥

इस कारण से-पूजादिक में हिंसादि की अधिक निवृत्ति न होने से, दूसरा कोई लाभ ही नहीं है। इस कारण से–पूजादि में की जाती हिंसा सदोष जाननी चाहिए, क्योंकि–उससे किसी का भी उपकार नहीं होता है''॥१६३॥

विशेषार्थ

पूज्य की आशातना होती है, और पूजक को हिंसादि में प्रवृत्त रहना पढ़ता है। ऐसे दुर्बल तर्क रख दिये गये हैं ॥ १६३ ॥

‡ इस विषय में जवाब दिया जाता है, कि—

"उवगारा-ऽ-भावेऽपि हु चिंता-मणि-जलण-चंदणा-ऽऽईणं ।

विहि-सेवगस्स जायइ तेहिं तो सो- पसिद्धमिणं. ॥ १६४ ॥

चिन्तामणि रत्न, अग्नि और चन्दनादिक को उपकार न होने पर भी उन्ही का विधिपूर्वक सेवन करने वाला पुरुष को उन्हीं से उपकार-लाभ होता ही है। यह बात लोक में प्रसिद्ध भी है।

रत्न से दारिन्द्य जाता है, अग्नि की सेवा से शीत मिटता है। चन्दन का उपयोग करने से उष्णता दूर होती है। वे लोक प्रसिद्धि से जड़ होने पर भी उन्हीं की सेवा से उपकार-लाभ होता है न ?" ॥ १६४ ॥

इअ कय-किच्चेहिंतो तब्भावे णत्थि कोऽवि विरोहो. ।

एत्तोच्चिअ ता (ते) पुज्जा का खलु आसायणा तीए ? ॥ १६५ ॥

इस प्रकार—कृतकृत्य पूज्यों (की पूजा) से भी उपकार होता है। इस कारण से—उनकी पूजा में कोई विरोध नहीं है।

इस कारण से—कृतकृत्य गुण को धारण करने वाले होने से वे भगवंत पूज्य है। तो उन्हीं की पूजा से कौनसी आशातना ? ॥ १६५ ॥
(और भी लाभ वताये जाते हैं—)

अहिगरण-[ग-णि] णिवित्ति वि इहं भावेणाऽहिगरणा णिवित्तिओ. ।

तद्दंसण-सुहजोगा गुण-ऽंतरं तीए परिसुद्धंए ॥ १६६ ॥

(जिन पूजा में) भाव से अधिकरणों की आरंभादिक की निवृत्ति रहने से अधिक (दोष) निवृत्ति भी होती है। और उनके दर्शन में शुभ योग का उपयोग होने से उस पूजा से ओर शुद्ध गुणों की प्राप्ति भी होती है ॥१६६॥

ता एअ-गया चेवं हिंसा "गुणकारिणि" त्ति विन्नेआ. ।

तह भणिअ-णायओच्चिय एसा अप्पेह जयणाए. ॥ १६७ ॥

उसी कारण से–पूजागत हिंसा को भी "गुणकारी" समझना चाहिए। जिसके लिए आगे (१५५) की गाथा मे न्याय बतलाया गया है, उसे जाना जाता है, कि–अधिक दोषो की निवृत्ति मे निमित्त भूत बनने से, और यतना से, यहा–जिन पूजादिक मे–अल्प ही हिंसा होती है ॥ १६७ ॥

‡ (सभवत् स्वरूप का उपसहार—)

"तह, सभवत-रूव सव्व सव्व- ण्णू वयणओ एअ ।
त णिच्छिअ कहिआ-ऽऽगम-पउत्त-गुरु-सपयाएहिं. ॥ १६८ ॥

तथा, (उपरोक्त) सभी सर्वज्ञ के वचन से समवित स्वरूप वाला है। असभवित नहीं है।

और–"सभवत्-स्वरूप वाला है," ऐसा निर्णय भी कथितागम (अथवा हितागम अथवा आगम) से चली आती गुरु सप्रदाय-परंपराओं से किया जा सकता है–किया गया है ॥ १६८ ॥

विशेषार्थ

जिन भवनादि मे जिस प्रकार अहिंसादिक कहे गये हैं, वे सभी सर्वज्ञ के वचन से सभवत् स्वरूप वाले हैं– अर्थात् सभवित है।

श्री सर्वज्ञ से जाने गये पदार्थो का कथन से उत्पन्न जो आगम– उसके प्रेरक बल से उत्पन्न सतत चली आती गुरु सप्रदाय एव गुरु परपरा, उसे निर्णीत कर यह सभी कहा जाता है, इससे प्रमाण भूत भी है ही ॥ १६८ ॥

‡ (पौरुपेय अपौरुपेय की विचारणा)

"वेअ वयण तु नेव अ-पोरसेअ तु त मय जेण ।
इअमऽच्चत ऽंत विरुद्ध. "वयण च" "अ-पोरसेअ च." ॥ १६९ ॥

"वेद वचन इस प्रकार संभवत् स्वरूप वाला नहीं है। क्योकि– उसको अपौरुषेय माना गया है। अर्थात् उसको रचने वाला–बोलने वाला–कोई प्रथम पुरुष माना गया नही है।

"वचन है।" और फिर भी वह "अपौरुपेय है।" यह ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दिखाई देता ही है ॥ १६९ ॥

‡ यह स्पष्टतया समझाया जाता है—

जं "वुच्चइ" त्ति "वयणं." पुरिसा-ऽ-भावे ण णोवमेअंति. ।
ता तस्सेवाऽ-भावो णिअमेण अपोरुसेअत्ते. ॥ १७० ॥

कि—जो "बोला जाय" उसको "वचन" कहा जाता है। यह व्युत्पत्ति सिद्ध (यौगिक) अर्थ का शब्द है। और पुरुष का अभाव से (कोई भी) वचन नहीं बोला जाता। इस कारण से- इस प्रकार अपौरुषेय माना जाय, तो वचन का संभव रहता ही नहीं ॥ १७० ॥

विशेषार्थ

जो बोला जाता है, इससे उसका नाम "वचन" रखा गया है। जो बोला न जावे, उसका नाम "वचन" नहीं है, इस कारण से वचन संज्ञा सार्थक रखी गई है। और जब वह–अपौरुषेय हो, तो वचन का अभाव रूप ही सिद्ध हो जाता है ॥ १७० ॥

तव्वावार [-विउत्तं] -विरहितं ण य कत्थइ सुव्वईह [इहं] तं वयणं. ।
सवणेऽवि य णा-ऽऽसंका अ-दिस्स-कत्तुब्भवाऽवेइ." ॥ १७१ ॥

किसी का बोलने का प्रयत्न विना "वचन" कभी भी जगत् में सुनने में आता नहीं है, कदाच सुनने में आ भी जाय तो, "उसका बोलने वाला अदृश्य भी कोई होना चाहिए।" मन में सदा होती ऐसी शंका मन से दूर नहीं जाती है, क्योंकि– प्रमाण विना वह शंका किस तरह दूर हो जा सके ?" ॥ १७१ ॥

"अ-दिस्स-कत्तिगं णो अण्णं सुव्वइ, कहं णु आसंका ?" ।
"सुव्वइ पिसाय-वयणं कयाइ, एअं तु ण सदेव" ॥१७२ ॥

‡ "जिसका बोलने वाला अदृश्य हो, ऐसा कोई दूसरा वचन सुनने में आता ही नहीं, तो अदृश्य बोलने वाला की आशंका किस तरह हो सकती है ?"
(क्योंकि–विपक्ष देखने में आता नहीं, मात्र सपक्ष ही देखने में आता है। अर्थात्– जो बोलता है, वह किसी को भी देखने में आता ही है। "इससे अदृश्यकर्तृक वचन नहीं मिलता है।")

‡ "पिशाच का वचन कभी भी सुना जाता है। और उसका बोलने वाला अदृश्य रहता है। तो वेद वचन इस प्रकार का भी नहीं है क्योंकि– उसको अपौरुषेय कहा गया है। इस स्थिति में अदृश्य पिशाच का वचन तो लौकिक वचन है, अपौरुषेय नहीं है। और अपौरुषेय वेद वचन सदा सुनने मे नहीं आता है" ॥१७२॥

‡ "अपौरुषेय पने को स्वीकार कर लिया जाय, तो जो दोष आता है, वह यहा पर बताया जाता है—

"वण्णा-ऽऽय-ऽ-पोरसेअ" "लोइअ वयणाणऽवीह सव्वेसि"।
"वेअम्मि को विसेसो? जेण तहि एसऽ सग्गाहो." ॥ १७३ ॥

‡ "लौकिक वचनो के भी अक्षरादि की सत्ता जगत् मे इस अपौरुषेय रूप से सर्व ने मानी है। क्योंकि–अक्षरपना (और वाचकपना) आदि का इस जगत् मे कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है। इस कारण से वचन अपौरुषेय है।"

‡ "इस रीति से तो लौकिक भी सभी वचन अपौरुषेय सिद्ध हो जाते हैं, तो, वेद वचन मे क्या विशेषता है? जिस कारण से– उसका अपौरुषेय पना मानने का इतना बडा भारी दुराग्रह रखा जाता है?" ॥१७३॥

"ण य णिच्छओ वि हु तओ जुज्जइ पाय कहिंचि सण्णाया?।"
"ज तस्सऽत्थ-पगासण-विसएह अइंदिया सत्ती" ॥ १७४ ॥

‡ "कितनेक विषय मे प्राय सन्न्याय पूर्वक (अपौरुषेय) वेद वाक्यो से (अर्थ का) निर्णय भी घट सकता नहीं है।"

‡ "(क्यों नहीं घट सकता है?) क्योंकि–अर्थ प्रकाशन के विषय मे वेद वचनो की अतीन्द्रिय शक्ति है" ॥१७४॥

"णो पुरिस मित्त गम्मा तद-ऽतिसओऽवि हु ण वहु-मओ तुम्ह,।
लोइअ-वयणेहिं तो दिट्ठ च कहि चि वेहम्म" ॥ १७५ ॥

"वह अतीन्द्रिय शक्ति पुरुषमात्र गम्य नहीं है। अतीन्द्रिय दर्शी उसका जो अतिशय है, वह आपको भी वहु सम्मत नहीं है।

वेद वचनों का लौकिक वचनों से कुछ अंश में विधर्म्य—जुदा पना-भी देखा जाता है" ॥ १७५ ॥

"ताणोह पोरसेआणि अ-पोरसेआणि वेय-वयणाणि।
सग्गुव्वसि-प-मुहाणं दिट्ठो तह अत्थ-भेओऽवि." ॥१७६॥

‡ "लौकिक वचनों को लोक में पौरुषेय माने गये हैं, और वेद वचनों को अपौरुषेय माने जाय, यह परस्पर वैधर्म्य होता है।

और, "स्वर्ग" "उवर्शी" इत्यादि शब्दों का अप्सरा पृथ्वी इत्यादि अर्थ भेद भी देखने में आता है। ("अप्सरा" "पृथ्वी" इत्यादि रूप अर्थ भेद भी देखने में आता है (?)") ॥१७६॥

विशेषार्थः

इस कारण से—जो लौकिक शब्द है, वे ही वैदिक शब्द हैं। और जो लौकिक शब्द का अर्थ है, वह वैदिक शब्दों का भी अर्थ है।

इससे, यह विचारणा खास कोई विशेषता रखती नहीं है। कोई शब्द के अर्थ भेद होने पर भी प्रायः सभी शब्द समानार्थक रहते हैं॥ १७६ ॥

"न य तं सहावओ च्चिय स-ऽत्थ-पगासण-परं पईओ व्व.।
समय-विभेआ-ऽजोगा, मिच्छत्त-पगास-जोगा य." ॥ १७७ ॥

‡ "और, वह वेद वचन दीपक की तरह अपना स्व-अर्थ का प्रकाश करने में स्वभाव से ही समर्थ नहीं है।"

‡ "क्यों समर्थ नहीं है ?"

‡ "शब्द के संकेतों की समानता होने से, और असत् पदार्थ का भी कभी प्रकाश करने से, कहीं पर, ये आपत्तियाँ आ जाती हैं" ॥ १७७ ॥

‡ वही बताया जाता है,—

"इ दीवरम्मि दीवो पगासई रत्तय अ सतं पि.।
चदोऽवि पीअ-वत्थ "धवल" ति न य निच्छओ तत्तो" ॥ १७८ ॥

‡ "जिस तरह इन्दीवर-कमल मे रक्तता न होने पर भी दीपक रक्तता को बतलाता है, और चन्द्र पीला वस्त्र को "धोला"-श्वेत बतलाता है, इस कारण से सच्चा योग्य अर्थ का निर्णय नही हो सकता है। उसी प्रकार, अर्थ से सगत-सबंध नहीं रखने वाले वेद वचनो से भी सच्चा निर्णय नहीं हो सकता है" ॥ १७८ ॥

"एव. नो कहि आ-ऽऽगम-पओग गुरु-संपयाय भावोऽवि।
जुज्जइ सुहो इह खलु णाएण, छिण्ण-मूलत्ता." ॥ १७९ ॥

"इस वेद वचन मे प्रवृत्ति करने के लिए न्याय से कहे हुए आगमो के प्रयोग से जानने वाले शुभ गुरु सप्रदाय का सद्-भाव भी नहीं है।

क्योंकि–उस प्रकार के वचन का संभव नहीं है, क्योंकि–उस की परपरा भी मिलती नहीं है, क्योंकि–उसका मूल भी उच्छिन्न हैं (?) ॥ १७९ ॥

विशेषार्थः

स्वयं अर्थ प्रकाशन नहीं है, और निश्चित अर्थ का प्रकाशन करने वाली आचार्य परम्परा भी नहीं है, क्योंकि–परपरा उच्छिन्न है। जिससे– वैदिक दर्शनों के भेदो से अर्थ भेद भी मालूम पडते है। यह प्रसिद्ध भी है ॥१७९॥

(उपसहार–)

"ण कयाइ इओ कस्सइ इह णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि।
जाओ "त्ति कहइ, एव ज सो तत्त, स वामोहो" ॥१८०॥

"वेद वचन से इस जगत् मे कभी, किसी को, किसी वस्तु मे निश्चय नहीं हुआ है"। ऐसा कहा जाता है। और ऐसा होने से 'जो वैदिक है, वह तत्त्व है।" ऐसा कहना, वह व्यामोह है, क्योंकि–"स्वय तो जड है" ॥१८०॥

"तत्तो अ आगमो जो विणेअ-सत्ताण, सोऽवि एमेव. ।
तस्स पओगो चेवं अ-णिवारणगं च णिअमेणं." ॥१८१॥

"इस कारण से–वैदिक (अर्थज्ञ) [आचार्य] से शिष्य वर्ग को जो व्याख्या का बोध होता है, वह भी ऐसा ही रहता है। अर्थात् व्यामोह रूप रहता है। और–आगमार्थ का जो प्रयोग होता है, सो भी व्यामोह ही है। और जो निवारण नहीं किया जाता है, वो भी व्यामोह है। (?)" ॥१८१॥

"णेवं परंपराए माणं एत्थ गुरु-संपयाओऽवि ।
लव विसेस इवणे जह जच्च-ऽंधाण सव्वेसिं" ॥१८२॥

"इस प्रकार से परंपरा से चला आता गुरु संप्रदाय भी इस विषय में प्रमाण भूत नहीं बन सकता है। जिस तरह– अनादिकालीन सर्व जन्मांध पुरुषों का श्वेत और श्याम रंग का भेद बतलाने में ज्ञान और कथन प्रमाण भूत नहीं हो सकता है' ॥१८२॥

विशेषार्थः

जन्मांध श्याम और श्वेत का भेद स्वयं पा सकता नहीं, ऐसी स्थिति अनादिकाल से सिद्ध है॥१८२॥

‡ अब प्रतिवादी इस विषय में नई शंका उठाता है:—

"अवओऽवि अ," सव्व-ण्णू सव्वो आगम-पुरस्सरो जेणं. ।
ता, सो अ पोरुसेओ, इअरो वाऽणा-ऽऽगमाओ उ." ॥१८३॥

"आपके पक्ष में भी, सभी सर्वज्ञ आगम पूर्वक ही होते हैं। क्योंकि–आगम में कहा गया है, कि–"सर्वज्ञ होने की इच्छा वालों को और केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वालों को तप, ध्यान इत्यादि करना चाहिए।" इस प्रकार आगम शास्त्र में कहा गया है। शास्त्र की उस आज्ञा से तप और ध्यानादि किये जाते हैं, तो यह आगम भी किसी सर्वज्ञ पुरुष से नहीं कहा जाने से अपौरुषेय सिद्ध होता है। क्योंकि–"आगम को कहने वाला

कोई सर्वज्ञ होगा," ऐसा सिद्ध होता नहीं। क्योंकि—सर्वज्ञ के पूर्व ही सर्वज्ञ होने का उपदेश देने वाला आगम होना चाहिये। इससे वह भी अपौरुपेय सिद्ध होता है।"

अथवा, "आगम से सर्वज्ञ नहीं होता है। और होगा, तो आगम बिना भी सर्वज्ञ का सभव बन जायेगा" ॥१८३॥

विशेषार्थ

"आगम बिना भी सर्वज्ञ बनने का सभव मानना पडेगा, या आगम को अनादि और अपौरुषेय मानना पडेगा।" प्रतिवादी का कथन का आशय यह है ॥ १८३ ॥

‡ इसका उत्तर दिया जाता है,—

"नोभयमऽवि, जमऽणा ऽऽई बीअ-ऽंकुर जीव कम्म-जोग-सम.।
अहवऽत्थतो उ एय, ण वयणओ वत्त होण त" ॥ १८४ ॥

("अर्थात्—सर्वज्ञ बिना आगम की उत्पत्ति का दोष, और आगम बिना सर्वज्ञ की उत्पत्ति का दोष) ये दोनो ही दोष नहीं लग सकता है। क्योंकि—बीज और अकुर के समान, और जीव और कर्म के सयोग के समान—आगम और सर्वज्ञ दोनों ही अनादिक है। "यह पहिला है।" और 'यह पहिला नहीं है," ऐसी व्यवस्था नहीं है।

इस कारण से उपरोक्त दोष नहीं लग सकता है।"

अथवा "आगमार्थ से ही सर्वज्ञ होता है।" इसे-आगमार्थ और सर्वज्ञ, उन दोनों का ही बीज और अकुर का न्याय घटाना चाहिये। किसी भी आगम को प्राप्त कर सर्वज्ञ होता है, और वास्तव मे-आगम का अर्थ को प्राप्त कर सर्वज्ञ होता है। इस कारण से—"आगम के वचनो मात्र से सर्वज्ञ बने", ऐसा नहीं है। आगम के "अर्थ" को प्राप्त कर सर्वज्ञ बनता है। 'वचन मात्र" को प्राप्त कर ही सर्वज्ञ बने, ऐसा नहीं है।

क्योंकि-श्री मरुदेवादि का सर्वज्ञ पना आगम के वचन विना- आगम के "अर्थ" का सीधा परिणमन से बना है।

इस कारण से-"आगम, वचन से ही अनादि है, ऐसा नहीं है।" क्योंकि=वचन तो वचन बोलने वाला वक्ता के आधीन ही रहता है, वक्ता के विना वचन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण से- वचन अनादि होने पर भी विना वक्ता वचन की प्रवृत्ति हो सकती नहीं। वचन की उत्पत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

आगम के वचनों का अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान-और तदनुसार प्रवर्तन) आत्मा में उत्पन्न क्षयोपशमादि भाव से भी हो सके, उसमें विरोध नहीं आता। अर्थात्-क्षयोपशमादि से भी आगम के अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति हो सकती है, जो वचन और उसके अर्थ से अविरुद्ध अर्थात् तदनुकूल रहती हो। इस प्रकार की स्थिति भी जगत् में देखी जाती है ॥१८४।

विशेषार्थ

अर्थात्-"आगम के वचन से ही सर्वज्ञ पने की प्राप्ति होती है," ऐसा नियम नहीं है। उसके अर्थ रूप सामग्री से सर्वज्ञ पना प्राप्त होता है। अर्थात्-आगम के वचन से, तदर्थ प्राप्ति से, और वचन विना भी तदर्थ प्राप्ति से, सर्वज्ञ पना प्राप्त होता है। सर्वज्ञपने का मुख्य कारण-तदर्थ का पालन है। यह रहस्य सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य है।

बीज और अंकुर का न्याय परंपरा से-प्रवाह से-अनादि पना समझाता है। किन्तु व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है। क्योंकि-एक बीज से उसका अंकुर हुआ, उसी अंकुर से प्रथम का बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, दूसरा नया बीज की उत्पत्ति होती है। और उससे-दूसरा अंकुर की उत्पत्ति होती है। एक बीज का कार्य उसका अंकुर होता है, उस अंकुर का कार्य उसका नया बीज होता है। उस बीज का कार्य उसका नया अंकुर होता है। इस कारण से कार्य-कारण

भाव सादि है। तथापि–उसकी शृ खला अनादिकालीन है, उसी तरह जीव कर्मसयोग व्यवत्यपेक्षया अंशतः सादि होने पर भी उसका प्रवाह भूतकाल की तरह अनादि सिद्ध होता है ॥१८४॥

"वेय-वयणम्मि सव्व णाएणाऽ-सभवत रूवं ज।
ता इअर वयण सिद्धं वत्थू कह सिज्झइ तत्तो ?" ॥१८५॥

‡ वेद वचनों मे आगमादि–उसके अर्थ, न्यायपूर्वक देखा जाय तो जो असभवत् रूप है। उस कारण से दूसरे वचनो से– सद्रूप वचनो से–(हिंसादोपादि) सिद्ध ऐसी वस्तु, मात्र वेद वचनो से ही कैसे सिद्ध हो सकती है ? ॥ १८५ ॥

विशेपार्थ

सभवत्स्वरूप से सिद्ध, वस्तु असभवत्स्वरूप से किस तरह सिद्ध हो सके ? ॥ १८५ ॥

(दृष्टान्त से समझाया जाता है—)

ण हि रयण-गुणाऽ-रयणे कदाचिदऽवि होंति उवल-साधम्मा ।
एव वयण ऽ'तर-गुणा ण होंति सामण्ण वयणम्मि. ॥ १८६ ॥

पत्थर-पना की समानता होने पर भी–रत्न के गुण अरत्न मे कदापि नहीं होते हैं। मस्तक का शूल को शात करने का गुण रत्न मे रहता है। (और वह प्रयोग से भी मालूम पड़ता है।) यह गुण अरत्नरूप सामान्य-घटी के पत्थर आदि–मे नहीं मालूम पडता है।

उसी तरह–वचन मात्र की समानता होने पर भी वचनान्तर का– विशेष गुण युक्त-वचन का–गुण–हिंसा-अहिंसादि बतलाने वाले गुण-सामान्य वचन मे नहीं हो सकता है। क्योंकि–सामान्य वचन में विशिष्ट गुण का योग नहीं रहता ॥ १८६ ॥

‡ (उपसहार–)

ता एव, सण्णाओ ण वुद्देणऽ-ट्ठाण-ठावणाए ए।
स ‡ एट्ठुओ कायव्वो, पास प्पचास णाणण (?) ॥ १८७ ॥

इस कारण से—समझदार पुरुष ने, अ-स्थान में स्थापित कर— उत्तम न्याय को—दूसरे वचन में लगाकर, तुच्छ-रूप में नहीं बना देना चाहिये। अर्थात्—चास पंचास-न्याय की तरह (?) असंभवित को संभविततया बतलाकर न्याय को तुच्छ नहीं बना देना चाहिये (?) ॥१८७॥

‡ उसमें युक्ति बताई जाती है:—

"तह, वेए च्चिअ भणिअं सामण्णेणं जहा—"ण हिंसिज्जा।
भूआणि". फलुद्देसा पुणो अ "हिंसिज्ज" तत्थेव." ॥ १८८ ॥

तथा, वेद में ही उत्सर्ग से सामान्यतया कहा गया है कि- "न हिंस्याद्-भूतानि" "प्राणिओं की हिंसा नहीं करनी चाहिए।" फिर भी फल की अपेक्षा से कहा गया है कि—

"अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः"

"स्वर्ग की इच्छा वालों को अग्निहोत्र में होम करना चाहिए।"

इससे- "हिंसा करनी चाहिये" ऐसा उसमें (वेद में) ही देखा जाता है ॥ १८८ ॥

"ता, तस्स पमाणत्तेऽवि एत्थ णिअमेण होइ दोसो-त्ति"।
फल-सिद्धीए वि, सामण्ण दोस-विणिवारणा-ऽ-भावा. ॥ १८९ ॥

तो इस कारण से—उस वचन को प्रमाण भूत माना जाय, और इस अनुसार वचन की प्रेरणा से वर्तन-पालन किया जाय, तो—स्वर्गादिक फल की प्राप्ति होने पर भी, (हिंसा) दोष की प्राप्ति लग जाती है। क्योंकि-"प्राणियों की हिंसा न करनी चाहिये," यह सामान्य वाक्य का—औत्सर्गिक वाक्य का—अर्थ का दोष का-निवारण नहीं होता है-अर्थात्—दोष की प्राप्ति हो जाती है ॥१८९॥

‡ (दृष्टान्त से समझाया जाता है—)

जह वेज्जगम्मि दाहं ओहेण णिसेहिउं, पुणो भणियं- ।
"गंडा-ऽऽइ-व्वय-निमित्तं करिज्ज विहिणा तयं चेव." ॥ १९० ॥

जिस तरह—वैद्यक शास्त्र में, दुःख करने वाला होने से सामान्यतया (शरीर को) दग्ध करने का निषेध किया गया है, तथापि फिर भी—किसी फल की अपेक्षा

से कहा गया है कि—

"गड (ग्रंथि आदि) को नष्ट करने के लिए-अर्थात् रोग विशेष को नष्ट करने के लिए-विधि पूर्वक दाह करना चाहिये," ऐसा कहा गया है ॥१९०॥

(फलित अर्थ क्या हुआ ? यह बतलाते हैं-)

'तत्तो वि किरमाणे ओह-णिसेहुब्भवो तहिं दासो ।
जायइ फल सिद्धीए वि एअ इत्थ पि विण्णेयं." ॥१९१॥

वैद्यक-शास्त्र के वचन से दाह करने पर भी- सामान्यतया जिसका निषेध किया गया है-ऐसा औत्सर्गिक निषेध का-भग रूप हिंसा दोष तो लगता ही है, रोग क्षय रूप फल मिलने पर भी सामान्य हिंसा रूप दोष बनता ही है । अर्थात्-सर्वतोमुखी सम्पूर्ण अहिंसा नहीं होती है ।

उसी तरह-वेद के विषय मे भी समझना चाहिये, अर्थात्-वेद वाक्यों की प्रेरणा से-आज्ञा से-प्रवृत्ति करने से-उसका फल भी मिलता है, तथापि-उत्सर्ग निषेध का भग रूप दोष तो रहता ही ।

अपेक्षा से विशेष हिंसा का फल मिलने पर भी सामान्य हिंसा का दोष निवृत्त नहीं होना है । (आपवादिक हिंसा की अपेक्षा से अहिंसा मानी जाने पर भी, औत्सर्गिकतया हिंसा रूपता नही जाती है) ॥ १९१ ।

(इस प्रासगिक विचार मे- दोनो छपे ग्रन्थो की मूल गाथाए और दोनों अवचूरिकायें पाठ भेद और अशुद्धि आदि कारणो से, चर्चा की सूक्ष्मता से, तथा पूर्व पक्ष-उत्तर पक्ष की अस्पष्टता रहने से भी-विषय की तथा प्रकार की विशुद्धता करने मे क्षतिया रह गई हैं । सपादक ।)

"कयमित्य पसगेण" "जहोचिआवेव दव्व-भाव थया ।
अण्णोऽण्ण समणुविद्धा निअमेणं होंति नायव्वा." ॥१९२॥

‡ 'इस द्रव्य स्तवादि के विचार मे जो प्रासगिक विचार का प्रारंभ किया गया था, उसको आगे न चलाकर यहा समाप्त किया जाता है ।

‡ द्रव्य स्तव और भाव स्तव यथा योग्यता के अनुसार अर्थात्–गौण और मुख्यता की अपेक्षा से परस्पर अवश्य संबंध रखने वाले हैं। अर्थात्–परस्पर गुंथे हुए जानने चाहिए। जो ऐसा न हो तो, दोनों का स्व स्वरूप ही रह सकता नहीं।

विशेषार्थः

भाव स्तव की अपेक्षा से ही द्रव्य स्तव का स्वरूप रहता है। और द्रव्य स्तव की अपेक्षा से ही भाव स्तव का स्वरूप रहता है। द्रव्य और भाव का व्यवहार ही परस्पर को सापेक्ष है ॥ १९२ ॥

"अप्प-विरिअस्स पढमो, सह कारि-विसेस-भूअमो सेओ।
इअरस्स वज्झ-चाया इअरो च्चिअ" एस परम-ऽत्थो. ॥ १९३ ॥

‡ जिसके आत्मा का वीर्य बल-अल्प होता है, उसके लिए पहिला–द्रव्य-स्तव-खूब सहकारी–सहायक बनकर रहता है, और उसका वीर्योल्लास के लिए श्रेस्कर होता ही है। और दूसरा–अर्थात् भाव-स्तव–जिस आत्मा का वीर्योल्लास अधिक हो, ऐसे मुनि को बाह्य द्रव्य स्तव का त्याग होने से दूसरा–अर्थात् भाव स्तव श्रेयस्कर होता है। यहां रहस्यार्थ–साधु को बाह्य पदार्थों का त्याग रहने से बाह्य द्रव्य स्तव का भी त्याग रहता है ॥ १९३ ॥

‡ इससे उल्टा किया जाय, तो क्या दोष हो जाय ? वह बतलाया जाता है,–

दव्व-त्थयंपि काउं ण तरइ जो अप्प वीरिअत्तेणं,।
परिसुद्धं भाव-थयं काही सोऽ-संभवो एस. ॥ १९४ ॥

जिस आत्मा का वीर्य अल्प विकसित हो, ऐसा आत्मा यथा योग्य रीति से द्रव्य-स्तव भी नहीं कर पाता है, और "वह परिशुद्ध भाव-स्तव को करेगा", यह असंभव है। क्योंकि– इस आत्मा में तथा-प्रकार की योग्यता प्रकट नहीं हुई रहती है ॥ १९४ ॥

‡ यहां स्पष्टता की जाती है, कि—

जं सो उक्किट्ठयर अविक्खइ वीरिअ इह णिअमा. ।
ण हि पल सयपि वोढु अ-समत्थो पव्वयं वहइ, ॥ १९५ ॥

जो भाव स्तव है, वह शुभ आत्म परिणाम रूप होने से उत्कृष्ट वीर्य को ही अपेक्षा रखता है, इस कारण से-अल्प वीर्य वाला उसको किस तरह कर सके ? जो अल्प शक्ति वाला पुरुष होने से पल का भी भार नहीं उठा सकता है, वह पर्वत का भार कैसे उठा सके ? तो यहां, द्रव्य स्तव का भार सो पल समान है, और भाव स्तव का भार पर्वत का भार समान है ॥१९५॥

विशेषार्थः

भाव स्तव के योग्य वीर्य प्राप्त करने का उपाय भी द्रव्य स्तव ही है। द्रव्य स्तव के बिना भाव स्तव की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रतिमा वहन की माफक इस विषय मे अनियम नहीं है।

जुत्तो पुण एस कमो [ ]

"यह क्रम योग्य है।" ऐसा कहा गया है।"

अलग अलग प्रकार के द्रव्य स्तवो की भाव स्तव की प्राप्ति के उपाय के सहाय से नियत क्रम रूप है। और गुण स्थानको का क्रम भी अस्त व्यस्त नहीं होता है। अर्थात् गुण स्थानों की प्राप्ति भी क्रमिक होती है, इत्यादि कारणों से द्रव्य स्तव और भाव स्तव का क्रम नियत ही है।

अर्थात्- भाव स्तव की प्राप्ति द्रव्य स्तव से ही होती है। किसी को भवान्तर मे द्रव्य स्तव की प्राप्ति हुई हो, और इस जन्म मे भाव स्तव की प्राप्ति हुई हो। किन्तु भाव स्तव की प्राप्ति के पूर्व द्रव्य स्तव की प्राप्ति अवश्य होनी चाहिए, यह नियम है ॥ १९६ ॥

ऐसी बात कहकर अधिक स्पष्टता की जाती है—

जो पउम च्चाएण णो इत्तिअपि णिग्गह कुणइ, ।
इह अप्पणो सया से सव्व च्चाएण कह कुज्जा ? ॥ १९६ ॥

जो आत्मा बाह्य त्याग कर वंदनादिक के लिए-थोडा काल के लिए

भी मन के उपर निग्रह नहीं कर सकता है, ऐसा क्षुद्र आत्मा यावत् जीव का सर्व त्याग कर आत्मा का निग्रह किस तरह कर सकता है ? ॥ १९६ ॥

‡ उन दोनो में बड़ा पने का और छोटा पने का विधि बतलाते हैं—

आरंभ च्चाएणं णाणा-ऽऽइ-गुणेसु वड्ढमाणेसु ।
दव्व त्थय [परि] हाणी वि हु न होइ दोसाय परिसुद्धा. ॥१९७॥

‡ द्रव्य स्तव में रहती हुई त्रुटि भी द्रव्य स्तव के करने वालों के लिए दोष के लिए नहीं होती है ।। क्योंकि—आरंभ का त्याग करने से–ज्ञानादि गुणों में वृद्धि होने से, वह (द्रव्य स्तव में रहती त्रुटि) भी परिशुद्धि के लिए रहती है, क्योंकि—उसकी अच्छी परंपरा चलती रहती है (जो आगे जाकर भाव स्तव को लाती है) ॥ १९७ ॥

‡ इस विषय में शास्त्रीय युक्ति भी दी जाती है—

एत्तोच्चिय णिद्दिट्ठो धम्मम्मि चउव्विहम्मि वि कमोऽयं ।
इह दाण-सील-तव-भावणामए, अण्णहाऽ-जोगा. ॥ १९८ ॥

इस कारण से–चारों प्रकार के धर्म में निम्न प्रकार से बताया गया यह क्रम द्रव्य स्तवादि पना से भी जैन शास्त्र में बताया गया है। दान, शील, तप और भावना।ऐसा क्रम बिना धर्म का योग कभी नहीं हो सकता है। १९८॥

‡ यहां क्रम का रहस्य स्पष्ट किया जाता है—

संतंपि बज्झमऽणिच्चं, थाणे दाणंपि जो ण विअरेइ, ।
इय खुड्डओ कहं सो सीलं अइ-दुद्धर धरइ ? १९९ ॥

वाह्य वस्तु अनित्य होने पर भी, योग्य पात्र में आहारादिक का जो क्षुद्र वृत्ति के कारण से क्षुद्र आत्मा दान नहीं दे सकता है, इस कारण से–यह वराक अर्थात् रांकड़ा, प्रवल महापुरुषों से आचरण करने योग्य अति दुर्धर शील का पालन किस तरह कर सकता है ? अर्थात्–नहीं कर सकता है ॥ १९९ ॥

अ-स्सीलो अ ण जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओऽवि, ।
जह सत्तीऽ तवस्सी भावइ कह भावणा जाल ? ॥ २०० ॥

और जो शीलवत नहीं है वह मोक्ष का कारण भूत तप का विषय भूत किस तरह हो सकता है ? अर्थात् तप को करने वाला किस तरह हो सकता है ? और जो मोह के परवश होकर, यथा-शक्ति भी तप नहीं करता है, वह भावनाओ का समूह को किस तरह भाव सके ? अर्थात् वह वास्तविकतया भावना धर्म को नहीं कर सकता है ॥ २०० ॥

[इत्थ च] एत्थ कम दाण-धम्मो दव्व त्थय रूवमो गहेयव्वो ।
सेसा उ सु-परिसुद्धा णेआ भाव-त्थय-स रूवा ॥ २०१ ॥

‡ यहा पर क्रम ऐसा है, कि–दान धर्म को द्रव्य स्तव रूप जानने का है, क्योकि–यह गौण धर्म रूप है। और परिशुद्ध शेष तीन (शील तप भावना) को भाव स्तव रूप समझना चाहिए। क्योकि–यह तीन मुख्य धर्म रूप है ॥ २०१ ॥

‡ इस प्रकार से–"धर्म की भेद-प्रभेद युक्त अनेक-विध व्यवस्था धर्म रूप है।" इस तरह से धर्म के सभी प्रकारो की घटना–विवेचना–करने की महत्त्व की सूचना स्याद्-वाद के आश्रय से व्यवस्थित तया की जाती है,—

इय आगम-जुत्तीहिं य तं त सुत्तमऽहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्व-धम्मा-ऽऽदि रूव विवेइयव्व सु बुद्धीए ॥ २०२ ॥

धीर पुरुषो ने सूक्ष्म बुद्धि पूर्वक उस उस सूत्र के अधिकार की अपेक्षा से आगम-शास्त्र में बतलाई हुई युक्तियो से द्रव्य-स्तव भाव-स्तव आदि रूप में अच्छी तरह से विवेचना–घटना–करनी चाहिये ॥ २०२ ॥

विशेषार्थ

विविध रूप से शास्त्रो में बतलाया गया मोक्ष साधक आध्यात्मिक विकास के क्रम को परस्पर में घटना करके समझाया जा सकता है। दृष्टान्त देकर उनका मार्ग फरमाया है। २०२ ॥

‡ ग्रन्थ की उत्कृष्टता की स्तुति और समग्रतया ग्रन्थ का उपसहार—

एसेह धम्म परिण्णा समासओ वण्णिया मए तुच्छ [तुब्भ] ।
वित्थरओ भाव-त्थओ इमीए सुत्ताउ णायव्वा ॥ २०३ ॥

यहां पर मैंने तुम्हारी सामने स्तव-परिज्ञा पद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है। इसका विस्तार से भावार्थ श्री आगम सूत्रों से जानना चाहिये ॥ २०३ ॥

अवचूरिकार से की गई ग्रन्थ की उत्तमता की स्तुति—

जयइ थय-परिन्ना, सार-निट्ठा, सु-वन्ना,
सु-गुरु-कय-अणुन्ना, दाण-वक्खाण-गुन्ना,
नय-निउण-पइन्ना, हेउ-दिट्ठंत-पुन्ना,
गुण-गण-परिकिन्ना, सव्व-दोसेहिं सुन्ना. ॥ १ ॥

सारों से भरपूर भरी ऐसी अच्छे वर्णों से युक्त, उत्तम गुरुओं से जिसकी आज्ञा फरमाई गई है।

दान-धर्म के व्याख्यान के गुण युक्त (?)। नय को अच्छी तरह से जानने वालों से अर्थात् नय निपुण पुरुषों से कही गयी, हेतु और दृष्टान्तों से पूर्ण भरी, गुणों का समूह से व्याप्त, और सर्व दोषों से रहित, ऐसी स्तव परीज्ञा (विश्व में) विजय पाती है ॥ १ ॥

अवचूरिकार उपाध्याय श्री मद् यशोविजय वाचक कृत पारमार्थिक आशिर्वचन—

इति स्तव-परिज्ञया किमऽपि तत्वमुच्चैस्तरं
यशोविजय-वाचकं र्यदुदऽ-भावि भावा-ऽर्जितम्,।
ततः कु-मत-वासना-विप-विकार-वान्तेवुं धाः
सुधा-रस-पानतो भवत तृप्ति-भाजः सदा. ॥ २ ॥

श्री यशोविजय वाचक ने स्तव परीज्ञा के साथ भाव पूर्वक का संबंध से जो कुछ उत्तम प्रकार की वस्तु को (पुण्य को) उपार्जन कर, जो कुछ पाया हो, उससे कुमत की वासना रूप विष का वमन हो जाने से, बुध पुरुषों अमृत रस का पान से सदा संतुष्ट होकर रहो ॥ २ ॥

तन्त्रैः किमऽन्यैर्भग्नेव भ्रान्तिः स्तव-परिज्ञया ?।
ध्वस्ता पान्थ-तृषा नद्या, कूपाः सन्तु सहस्रशः ॥ ३ ॥

यदि नदी से मुसाफिर की तृषा मिट जाती है, तो हजारों कुंवें भले ही हो, इससे क्या ? उसी तरह, स्तव परिज्ञा से भ्रान्ति दोष मिट जाता है, तो दूसरे अन्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है ? इससे, "स्तव परीज्ञा बहुत उच्च प्रकार का शास्त्र है।" ऐसा सूचित किया जाता है ॥ ३ ॥

मेरा क्षतियां रूप दुष्कृत संत कृपया मिथ्या हो।

प्रभुदास बेचरदास पारेख कृत-संपादित—

सावचूरिक-स्तव-परिज्ञा की [हिन्दी] भावार्थ-चन्द्रिका संपूर्ण

[२०२५ भाद्रपद में, राजकोट-२]।